श्री कुमार कवि विरचित

आत्मप्रबोध

• •

श्री सिद्धात्मने नमः

श्री कुमार कवि विरचित

आत्मप्रबोध

(स्व० पं० गजाधरलाल जैन कृत हिन्दी अनुवाद सहित)

अन्वयार्थ एवं सम्पादन

सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

सह-सम्पादक

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सवाई सिंघई धन्यकुमार जैन, कटनी (म० प्र०) की

स्नेहमयी, धर्मवत्सला स्व० मातुश्री

की

पुण्य स्मृति में प्रकाशित

वीरनिर्वाण संवत् २४१५] [१९८९ ई०

ĀTMA PRABODH
by Shree Kumar Kavi

•

प्रकाशक एवं पुस्तक प्राप्ति :
सवाई सिंघई धन्यकुमार जैन
महावीर कीर्ति स्तम्भ, नेहरू पार्क
कटनी, (जिला जबलपुर, म० प्र०)
पिन—४८३५०२

•

मूल्य : स्वाध्याय, मनन, चिन्तन

•

आचार्यश्री कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि
के शुभावसर पर प्रकाशित

•

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१०

विनयाञ्जलि

बहुत समय से धर्मवत्सला, पूज्यनीया मातेश्वरी की पावन-स्मृति में प्राचीन, धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ प्रकाशित करने की इच्छा थी। साथ ही ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहता था जो ग्रन्थ अप्रकाशित या अप्राप्य हो।

संयोगसे पितृतुल्य-मार्गदर्शक, सिद्धान्तशास्त्री पण्डित जगन्मोहनलाल जी से यह "आत्मप्रबोध" ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह बहुत समय पूर्व कलकत्ता की जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था से प्रकाशित हुआ था। अध्यात्म विषय को लेकर दक्षिण भारत के ब्राह्मण कुलोत्पन्न किन्तु जैनधर्म के परम श्रद्धालु पण्डितश्री गोविन्द भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र, बाह्य क्रियाकाण्ड के आरोप से खिन्न, अध्यात्म के उपासक श्री कुमार कवि द्वारा १४९ छन्दों में यह ग्रन्थ लिखा गया है। स्व० पण्डित गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ द्वारा उसकी सुबोध हिन्दी टीका के साथ यह प्रकाशित हुआ था। किन्तु बहुत लम्बे समय से वह अप्राप्य था। अतः इसे प्रकाशित करने का विचार आया। १०८ पूज्य मुनिराज श्रुतिसागर जी का इस वर्ष (१९८८ में) कुण्डलपुर में चातुर्मास था। मुनिराज जी बड़े अध्ययनशील और आध्यात्मिक रुचि वाले हैं।

इस ग्रन्थ को उन्होंने पढ़ा और सुझाव दिया कि यह ग्रन्थ प्रौढ़ संस्कृत भाषा में है, अतः यदि अन्वयार्थ भी कर दिया जाय तो मूल छन्दों के शब्दार्थों को समझने में सरलता रहेगी। श्रीमान् पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, जो पिछले बारह वर्षों से धार्मिक एवं व्रती जीवन कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर) जी सिद्धक्षेत्र के महावीर उदासीन आश्रम में व्यतीत कर रहे हैं, उन्होंने मुनिराज जी के आग्रह से इसका अन्वयार्थ भी कर दिया। अतः मूल-संस्कृत श्लोक, अन्वयार्थ और हिन्दी टीका सहित इसे अपनी पूज्यनीया

मातुश्री की पुण्य स्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है। इस तरह यह ग्रन्थ सभी स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए सरल और सुबोध बन गया है।

यद्यपि मेरी पूज्यनीया मातुश्री का नाम मूलाबाई था, तथापि जब हमारे पितृकुल में आईं तो हमारे दादा, चाचा, आदि तथा दादी, चाचो, आदि ने इनके सहज-स्वभाव, धार्मिकता तथा सभी प्रकार की सेवा भावना, उदारता, सहिष्णुता आदि गुणों को देखकर इनका नाम 'कुल को उजाला करने' के अर्थ में "उजयारी बाई" रखा।

वि० सं० १९८५ में स्व० १०८ चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्ति-सागर ने सघ सम्मेदशिखर की यात्रा की। इसके बाद सौभाग्य से वे ससंघ कटनी पधारे। उनके जीवन का मध्यप्रदेश में प्रथम चातुर्मास कटनी में ही हुआ था। यह चातुर्मास मलमास (बढ़ा हुआ महीना) के कारण ५½ महीनों का हुआ। समस्त उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, पंजाब, दक्षिण भारत आदि प्रान्तों की जैन समाज बहुत संख्या में दर्शनार्थ पधारी। इनमें सर सेठ हुकमचन्द्र जी इन्दौर, सर श्री भागचन्द जी सोनी अजमेर, बैरिस्टर चम्पतरायजी, श्री राव जी सखाराम दोषी शोलापुर, बैजनाथ जी सरावगी कलकत्ता, तथा संघाधिपति सेठ गेंदामल जी बम्बई आदि भी पधारे। कई महीनों तक सभी ने सभी प्रकार का लाभ लिया। अनेक सुप्रसिद्ध विद्वज्जन भी पधारे और अपनी अनेक शंकाओं का समाधान पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उस समय पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी भी पधारे थे तथा उन्होंने अनेक चर्चाएँ आचार्यश्री से करने के बाद बहुत आश्वस्त हुए थे।

आचार्यश्री के इस चातुर्मास में हमारे पितृजनों ने भी आहार-आदि द्वारा सेवा कर अपने को धन्य भाग्य माना। समाज के समागत भाईयों को भी सेवा का अवसर मिला। मेरी उम्र इस समय १०-११ वर्ष की

थी। मैं भी अपनी पूज्यनीया मातुश्री के साथ में रहकर दर्शनार्थ जाता था और अनेक स्थानोंके चातुर्मास में मातुश्री के साथ दर्शनार्थ जाने का सुअवसर मिला। यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मुझे बाल्यकाल में ही प्राप्त हो गई थी, तब से अब तक पूजन, स्वाध्याय, मुनिदर्शन तथा आहारादि देनेकी रुचि विद्यमान है।

मेरी मातुश्री ने उस समय आचार्य श्री से "व्रत प्रतिमा" के व्रत ग्रहण किए और आजीवन दृढ़ता से उसका पालन किया।

कटनी में कोई संघ या मुनिराज, त्यागी, ब्रह्मचारी, विद्वान् या समाज के कोई भी भाई आते थे, उन सबकी आहार-आदि से सेवा करने में ये अग्रणी रहतीं थीं। स्थानीय महिला समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गरीब, अमीर, मध्यम-वर्ग का प्रत्येक कार्य वे बिना बुलाए भी सम्मलित होकर, सभी कार्यों की अपने ऊपर जिम्मेदारी लेकर—पूरा करतीं थीं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उक्ति उनके जीवन में पूर्ण चरितार्थ होती थी।

आज भौतिक चकाचौंध भरे, इस आपा-धापी के युग में जहाँ जन समुदाय-समाज अविश्रान्त पंचेन्द्रिय विषयों की पूर्ति तथा तत्साधन-भूत अर्थ के संचय में आकण्ठ में डूबा हुआ है। ऐसे संक्रमण काल में यह लघु सरल, सुबोध एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ के स्वाध्याय, पठन-पाठन, परिशीलन एवं चिन्तन-मनन से आत्मबोध-आत्म दर्शन की ज्योति जग सकती है—ऐसा मुझे विश्वास है। मेरी ऐसी भावना के अनुरूप यदि दसमांश भी सफलता मिल सके तो मैं अपने जीवन को कृत-कृत्य मानूँगा।

माता-पिता के पावन संस्कार मुझे विरासत में मिले हैं। अतः उनका उपकार कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का प्रकाशन माताजी की पुण्य-स्मृति में करा रहा हूँ। सभी सज्जनोंसे अनु-

रोध है कि हमसे प्राप्तकर इस ग्रन्थ का स्वाध्याय-मनन-चिन्तन द्वारा सदुपयोग करें। मन्दिरों में इसे विराजमान करके इसके प्रचार-प्रसार में सहभागी बनें, ऐसी मेरी भावना तथा सानुरोध—सविनय निवेदन है। इसका स्वाध्याय हो इसका मूल्य है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैनदर्शन विभागाध्यक्ष डॉ० फूलचन्द्र जी प्रेमी ने सह-सम्पादकत्व का पूरा-पूरा निर्वाह कर इसके सुन्दर प्रकाशन में बहुत परिश्रम किया है, अतः उनको साधुवाद देता हूँ। महावीर प्रेस के मालिक श्री बाबूलाल जी फागुल्ल ने इसका शीघ्र और अच्छा मुद्रण किया। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पूज्य मातुश्री की वरद् दायिनी, शीतल-छाया में मैं पल्लवित हुआ हूँ। अतः उनके चरणों में शत्-शत् प्रणाम।

श्री महावीर कीर्ति स्तम्भ
नेहरूपार्क, कटनी (म० प्र०)
दिनांक २६ जनवरी १९८९

विनयावनत
स० सिं० धन्य कुमार जैन
श्रीमती सुशीला बाई (धर्मपत्नी)

श्री सिंघई जी और उनकी मातुश्री का संक्षिप्त परिचय

कटनी नगर (म० प्र०) के सुविख्यात श्रावक स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलाल जी का नाम जैन समाज में सुपरिचित है। इनके द्वारा दमोह, सिवनी व कटनी-इन तीनों स्थानों में जैन मन्दिरों की स्थापना की गई थी। दमोह (म० प्र०) का दिगम्बर जैन मन्दिर १२वी शताब्दी का प्राचीन मन्दिर था, जिसका नवीनीकरण (जीर्णोद्धार) इनके पूर्वजों द्वारा अठारहवीं शताब्दी में किया गया। सिवनी में भी १९वीं शताब्दी में जनसाधारण को दर्शन की सुविधा के लिए निर्माण किया था। गाँव छोटा था और वहाँ जैन मन्दिर आवश्यक था। तीसरा मन्दिर भी आज से ९९ वर्ष पूर्व कटनी नगर में बनाया गया। दमोह और कटनी नगर में गजरथ पंचकल्याणक महोत्सव भी किया गया, जिसके लिए समाज द्वारा उन्हें 'सिंघई' और "सवाई सिंघई" की उपाधि से विभूषित किया गया था।

म० सि० कन्हैयालाल जी पांच भाई थे। उनमें चौथे भाई स० सि० दरबारीलाल जी थे। इनका विवाह दमोह के प्रसिद्ध सर्राफ खानदान में हुआ था। सि० धन्यकुमार जी इन्हीं सि० दरबारीलाल जी के एकमात्र पुत्र हैं।

प्रारम्भ में इनकी शिक्षा-दीक्षा स्थानीय दिगम्बर जैन शिक्षा संस्था, (कटनी) में हुई। पश्चात् उच्च शिक्षा भी प्राप्त की। इनकी मातुश्री, जिनका गृहनाम मूलाबाई था और श्वसुरगृह में "उजयारी बाई" नाम रखा गया था। इसमें सन्देह नहीं कि नामानुसार इन्होंने कुल को उजाला दिया। स्वभाव से अत्यंत उदार, दयालु, परदुख-कातरता, परोपकार आदि इनके गुण थे। नगर के किसी भी भाई के घर विवाहादि कार्य हो तो अपना निजी कार्य मानकर ही उनकी सहायता व सहयोग करना उनका जन्मजात स्वभाव था। धर्म की कट्टर श्रद्धालु एवं व्रत उपवासादि में दृढ़ थीं। सं० १९८२ में आचार्य शांतिसागर जी महाराज का जब कटनी में चातुर्मास हुआ था, तब इनकी ओर से आहारदान की प्रक्रिया प्रतिदिन होती थी और कोई न कोई संघस्थ साधु का आहार होता था। इसके सिवाय आचार्य श्री के दर्शनार्थ आने वाले त्यागी, ब्रह्मचारी, विद्वज्जन तथा समाज के समागत अन्य श्रावक-श्राविकाओं को भी भोजन कराके स्वयं को धन्य मानतीं थीं। आचार्य-संघ की सेवा आगे सोनागिर तक जाकर भी इन्होंने की। ऐसी पुण्यशीला मातुश्री के संस्मरणार्थ स० सि० धन्यकुमार जी ने इस सर्वथा उपयुक्त किन्तु अप्राप्य पुस्तक का प्रकाशन करके श्रेष्ठ कार्य किया है, जो सभी के लिए भी अनुकरणीय है।

कटनी

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

प्राक्कथन

श्री भगवत्कुंदकुंद द्विसहस्राब्दि के पुण्यावसर पर श्री कुमार कविकृत आध्यात्मिक ग्रंथ "आत्मप्रबोध" को प्रकाशित करने का शुभावसर प्राप्त हुआ है। इसका पहली बार प्रकाशन आज से ६०-६५ वर्ष पूर्व श्रीमान् विद्ववर पं० गजाधरलाल जी की हिन्दी टीका सहित 'भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था' कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इस संस्था की स्थापना सेठ हरीभाई देवकरण एण्ड सन्स, सोलापुर ने अपनी प्रमुख दान-राशि से संस्थापित की, जिसमें गोम्मटसार, जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार आदि सिद्धांत के सटीक प्रमुख ग्रन्थ तथा पं० टोडरमल जी द्वारा की गई भाषा वचनिका सहित प्रकाशित हुये थे।

छापाखानों में सरेस के बेलनों का उपयोग पहले होता था, जिसमें हिंसा के कारण अविनय होती है, उसके स्थान पर शुद्ध कपड़े के बेलन से ग्रन्थ छापने हेतु इस संस्था तथा शुद्ध प्रेस की व्यवस्था की गई थी। श्री पं० श्रीलाल जी काव्यतीर्थ तथा पं० गजाधर लाल जी उसके प्रमुख संचालक थे। उनके समय में संस्था ने अच्छी उन्नति की।

कोई भी संस्था केवल धन के बल पर नहीं चलती, अपितु उसके संचालन में मुख्यतः योग्यतम संचालक होना आवश्यक है। यदि संचालक निष्ठावान् परिश्रमी हों तो रुपया भी उनके ही सत्प्रयत्न से स्वयं प्राप्त हो जाता है। उक्त दोनों संचालक विद्वानों के स्वर्गवास के पश्चात् संस्था किस प्रकार समाप्त हो गई उसका इतिहास अपरिचित है। समाज द्वारा संस्थापित प्रायः सभी संस्थाओं के संचालन में निष्ठावान, परिश्रमी, लगनशील संचालक के अभाव से ही वे समाप्त हुई हैं और होंगी, यह सुनिश्चित है, क्योंकि इतिहास भविष्य का भी निर्णायक होता है।

प्रस्तुत 'आत्मप्रबोध' ग्रंथ भी उसी संस्था की चुन्नीलाल ग्रन्थ माला का एक पुष्प था। इस ग्रन्थ का प्रमुख एवं एकमात्र विषय अध्यात्म है। इसलिए यहां प्रथमावृत्ति की भूमिका रूप "आवेदन" को ग्रन्थ के विषय परिचय के रूप में भी प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रंथ की प्रथमावृत्ति—दो दानियों के द्रव्य से प्रकाशित हुई थी—अमरावती निवासी सिंघई वंशीलाल पन्नालाल परवार तथा दूसरे सज्जन रामचन्द्र कन्हैयालाल जी परवार।

उस समय कारंजा की भट्टारक गद्दी पर श्री वीरसेन जी महाराज भट्टारक विद्यमान थे। मुझसे उनका साक्षात्कार उनके अन्तिम समय में हुआ था। वे अशक्त अवस्था में थे। लोग उनकी अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे, पर वे सचेत थे। मैंने उनकी इच्छानुसार अपना परिचय उन्हें बताया। उस समय मेरे विद्यागुरु स्व० पं० देवकीनन्दन जी सिद्धान्तशास्त्री, व्याख्यान वाचस्पति भी मेरे साथ थे। वे उन दिनों कारंजा में जैन गुरुकुल के प्राचार्य थे।

मैंने भट्टारक जी से प्रश्न किया कि रागादि भाव जीव में होते हैं, पुद्गल के नहीं, तब पुद्गल और आत्मा को रागादि रहित शुद्ध कैसे कहा जाता है ? प्रश्न सुनते ही आपने उपस्थित शिष्यों से कहा कि मुझे बैठा दो। उकड़ूं बैठकर प्रश्न का उत्तर देते जाते और सरकते हुए मेरे पास आते जाते थे। बिल्कुल समीप में आकर मेरे दोनों कन्धों पर दोनों हाथ रखकर उन्होंने कहा कि भाई ! रागादि कर्म निमित्तजन्य हैं, आत्मा के विकार हैं। अतः वे आत्मा नहीं हैं। आत्मा को आत्म-स्वभाव से देखो तो रागादि नजर ही न आयें। वे आत्मा के चैतन्य स्वभाव से भिन्न औपाधिक भाव हैं। इसी से तो संसार है। जिस दिन यह गलत मान्यता हट जायेगी और आत्मा का शुद्ध स्वभाव दृष्टि में आयेगा, तब देखोगे कि इस चैतन्य चमत्कार के आगे ये अचेतन रागादि भाव टिक नहीं सकते। वे अचेतन हैं, जब कि जीव स्वयं एकमात्र ज्ञान चेतना का ही स्वामी है।

उनका उत्तर उस समय मेरी समझ के बाहर था। कारण यह था कि मैं एक चौबीस वर्ष का विद्यार्थी था। अध्यात्म का अपरिपक्व ज्ञान था, तथापि मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और उस उत्तर पर निरन्तर चिन्तन करता रहा। कुछ समय बाद उनके कथन की यथार्थता समझ में आ गई।

भट्टारक जी द्वारा उपदेशित आध्यात्म का प्रभाव उस समय कारंजा, अमरावती, वर्धा, नागपुर आदि स्थानों में उस तरफ अधिक था। उनकी मान्यता भी बहुत थी, तथापि उस समय भी अपूर्ण ज्ञानी तथा अहंकारी उनका तिरस्कार और विरोध भी करते थे। उसे याद कर आज के समयसार के अज्ञानियों के विरोध पर आश्चर्य नहीं होता। जिस प्रकार के अज्ञानी उनके विरोधी थे, उसी प्रकार उनके पक्ष धरों में भी समयसार के पक्षपाती भी कोई-कोई अज्ञानी थे, जिन्हें समयसार का वास्तविक ज्ञान न था, पर वे भी अहंकारी थे।

एक दिन की अन्य घटना है, जब मेरी उम्र १२ साल की थी। मैं अपने पिताजी के साथ गिरनार जी जा रहा था। अमरावती के मंदिर में पहुँचे। वहाँ एक बच्चे ने पेशाब कर दी। मेरे पिता ने उसकी माँ को सचेत किया कि बच्चों

को पेशाब कराकर ही मंदिर में लाना चाहिए, अन्यथा इस प्रमाद से पापबंध होता है। वहाँ एक सज्जन थे। उन्होंने कहा कि मंदिर तो जड़ है, इससे क्या पाप ? क्या पुण्य है ? दोनों ही पुद्गल हैं, जीव तो हैं नहीं। मेरे पिताजी के साथ बहस छिड़ गई। उन सज्जन को रोष आ गया। वे मंदिर से घर गये और बंदूक उठाकर मन्दिर के सामने बैठ गये और बोले बाहर निकले तो बंदूक से मार दूँगा। लोगों ने उन्हें बहुत समझाया, पर उनका रोष समाप्त न हुआ। हमारे पिताजी को ज्ञात हुआ तो उपसर्ग दूर न होने तक के लिए अन्न-जलका त्याग कर मन्दिर में बैठे रहे। शाम को सिवई पन्नालाल जी अमरावती के समझाने पर वे अपने घर लौट गये, तब वे सिंघई जी ही पिताजी को मन्दिर से बाहर लाये।

इस घटना से सिद्ध है कि अध्यात्म का विरोध करने वाले तो अज्ञानी हैं ही किन्तु उसका पक्ष करने वाले उसके रहस्य के सभी जानकार भी ज्ञानी नहीं होते। वर्तमानकाल में भी अजानकारों में अज्ञानी ज्यादा हैं और अनेक पक्ष-धर भी अज्ञान विमूढ़ हैं। इन दोनों की खींचतान आज भी जारी है। उसमें एक ओर से सामान्य जनता पिसती है और दूसरी ओर से समयसार के यथार्थ समझने वाले लोग भी पिसते हैं ! ऐसी स्थिति में विवेक की आवश्यकता सबसे ज्यादा है, ताकि समाज सही दिशा की ओर अग्रसर रहे और एक स्वच्छ वातावरण बना रहे। 'आत्म प्रबोध' जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों का सही रूप में स्वाध्याय, मनन और चिन्तन इस दिशा में काफी कार्यकारी हो सकता है।

इस आत्मप्रबोध ग्रंथ पर "आत्मप्रबोध वचनिका" भी काफी वर्षों पूर्व प्रकाशित हुई थी। इसके लेखक मुनिश्री आनन्दसागर जी हैं। मूल आत्मप्रबोध को आधार बनाकर विस्तृत रूपसे टीका लिखी गई है और इसे १२ परिच्छेदों में विभक्त करके प्रतिपाद्य विषयों का अच्छा और विशद विवेचन किया गया है। मुनिश्री ने अपने सागर (म० प्र०) चातुर्मास काल में इसकी रचना की थी। यह शास्त्राकार (१५ × १२ अंगुल) २१७ पृष्ठों में है। किन्तु मुझे जो प्रकाशित प्रति उपलब्ध हुई, उसमें आरम्भिक पृष्ठ नहीं है अतः प्रकाशन स्थल, समय आदि की जानकारी उपलब्ध नहीं हुई।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ के इस संस्करण का प्रकाशन श्रीमान् स० सिं० धन्यकुमार जी कटनी ने अपनी मातुश्री के संस्मरणार्थ कराया है। यद्यपि यह पहले संस्कृत श्लोक, अर्थ, हिन्दी टीका सहित ही प्रकाशित किया जा रहा था किन्तु

पूज्य १०८ मुनिश्री गुप्तिसागर जी की विशेष प्रेरणा से इसका मैंने अन्वयार्थ लिखा और अब इसे इस सहित प्रकाशित किया जा रहा है। इससे सभी के लिए इस ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक बढ़ेगी ऐसी आशा है।

इसके अच्छे प्रकाशन एवं सम्पादन में डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी, वाराणसी ने जिस परिश्रम, लगन और निष्ठा का परिचय दिया है, उसके लिए मैं उन्हें शुभाशीष देता हूँ कि वे निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ते रहें। इस ग्रन्थ का मूल्य स्वाध्याय, मनन और चिन्तन रखा गया है। ऐसा जनसाधारण के लाभार्थ सिंघई जी की ओर से किया गया है। आशा है पाठकगण इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इसका पूरा लाभ उठाकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उद्देश्य को सफल करेंगे।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री
कुण्डलपुर

दो शब्द

आध्यात्म विद्याके मर्मज्ञ विद्वान् श्री कुमार कवि कृत 'आत्म-प्रबोध' जैसे आध्यात्म रससे ओतप्रोत इस महनीय ग्रन्थके प्रकाशनसे अपूर्व हर्षका अनुभव हो रहा है। इसके प्रकाशनके माध्यमसे मुझे इसका गहराईसे पारायण करनेका सुअवसर मिला है। यद्यपि यह आकारमें लघु होते हुए भी प्रतिपाद्य विषय की दृष्टिसे यह "गागर में सागर" की उक्तिको चरितार्थ करता है। इसमें कविने संसारके मिथ्यात्व मायाजालमें उलझे लोगोंको अध्यात्मविद्या द्वारा आत्म-वैभव पाने की बारम्बार प्रेरणा दी है। कविने इस ग्रन्थके माध्यमसे सांसारिक सुख प्राप्ति हेतु विविध मिथ्या मन्त्रोंके झूठे आकर्षणमें फँसे लोगोंको आश्वस्त करते हुए सच्चे सुखका मार्ग बताया तथा 'णमोकार महामंत्र' के विविध एवं व्यापक रहस्यों और उसके यथार्थ तथ्योंका भी उद्घाटन किया है। अध्यात्मविद्या, योग, ध्यान, स्वाध्याय आदि विषयोंका गहन एवं सांगोपांग विवेचन इस ग्रन्थ को अपनी विशेषता है।

सुभाषितमय इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह भी स्पष्ट है कि कवि जैन एवं जैनेतर विविध शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा आचार्य कुन्दकुन्द, आ० समन्तभद्र, आ० गुणभद्र तथा नेमिचन्द्राचार्य प्रभृति सुप्रसिद्ध जैनाचार्योंके साहित्यसे ये विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं।

मुझे इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-प्रकाशनके दायित्वका सौभाग्य मेरे पूज्य गुरुवर्य पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री एवं सम्माननीय स० सि० धन्यकुमार जी से प्राप्त हुआ। इस दुर्लभ ग्रन्थका प्रकाशन ६०-६५ वर्ष पूर्व शास्त्राकार रूपमें हुआ था। किन्तु प्रस्तुत संस्करणमें पूज्य पं० जी द्वारा विद्वत्तापूर्ण रूपमें लिखे गये अन्वयार्थके कारण यह जहाँ स्वाध्यायशील लोगोंको अत्यधिक सरल-सुबोध हो गया है, वहीं विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रमके योग्य भी बन गया है। ग्रन्थको प्रस्तुत रूपमें लाने हेतु पर्याप्त प्रयत्न किया गया है, फिर भी कमियाँ रह जाना स्वाभाविक है, उनके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। इस कार्यके माध्यमसे सम्पादन आदिके विषयमें मुझे बहुत कुछ सीखने-समझने और साथ ही श्रुत एवं गुरु सेवाका जो अवसर इन्होंने उपलब्ध कराया है, उसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूँ। वस्तुतः मैं आज जो भी हूँ—वह सब पूज्य बड़े पं० जी द्वारा मुझे बचपन से ही प्राप्त स्नेह-पूर्ण शुभाशीष, मार्गदर्शन और प्रेरणाओंका ही प्रतिफल मानता हूँ।

प्रस्तुत अनुपलब्ध ग्रन्थका प्रकाशन सम्माननीय सिंघई जी ने अपनी पूज्यनीया मातुश्रीकी स्मृतिमें करके महान् साहित्य सेवाकी है। आशा है समाज इसी तरहके दुर्लभ साहित्यके प्रकाशनकी प्रेरणा ग्रहणकर जैन साहित्यके व्यापक प्रचार-प्रसारमें उदारता पूर्वक सहयोग करेगी, क्योंकि जहाँ एक ओर हजारों ग्रन्थ शास्त्र भण्डारमें संरक्षण एवं प्रकाशनके अभाव में नष्ट होनेकी स्थितिमें हैं, वहीं ऐसे अत्यन्त उपयोगी एवं नित्य स्वाध्याय योग्य सुप्रसिद्ध आचार्योंके सैकड़ों ग्रन्थ भी अब दुर्लभ (अप्राप्य) हो गये हैं, जिनका प्रकाशन २०-२५ वर्ष पूर्व तक हुआ था। इन ग्रंथोंका कोई विकल्प भी नहीं है। ऐसे ग्रन्थोंकी निरन्तर कमी महसूस हो रही है। देशके अनेक विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रममें भी वे निर्धारित हैं। किन्तु इनके प्रकाशनकी सुध लेनेवाले भी अब दुर्लभ होते जा रहे हैं, यह बहुत चिन्ताका विषय है। आशा है इस कमीकी ओर सभीका ध्यान आकृष्ट होगा। स्वाध्यायके प्रति जन-जनमें रुचि जागृत करने और सत्साहित्यके संरक्षण, संवर्द्धन एवं प्रचार-प्रसारमें उदारताका भाव हम सभीमें जाग्रत रहे, यही मंगल भावना है।

—डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी

गणतंत्रदिवस, १९८९

पी २।३ लेन नं० १३, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी-२२१००५

प्रस्तुत ग्रंथ और ग्रंथकार

ग्रंथ का विषय-परिचय[1] :

आत्मा के निरंजन, निराबाध, अनुपम स्वरूपका भलेप्रकार जानना अध्यात्मज्ञान है और वन पर्वत आदि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान बाह्यज्ञान कहा जाता है। यद्यपि व्यवहारी मनुष्योंको वन-पर्वत-सुवर्ण-रजत आदिका ज्ञान भी आवश्यक है परन्तु प्राणिमात्रकेलिये जितना अध्यात्मज्ञान कल्याणकारी और प्रयोजनीय है उतना बाह्यज्ञान नहीं क्योंकि बाह्यज्ञानसे सदा हमारी आत्मा आकुलतारूप होनेसे अशांत रहती है। परन्तु जिस समय आत्माका निर्दोष ज्ञान हो जाता है, उस समय हृदयमें स्वयं शांति छटकने लगती है और उस समय अध्यात्मज्ञानियोंको यह स्पष्टरूपसे मालूम पड़ जाता है कि जो कुछ शांति और सुख है वह इसी अध्यात्म ज्ञानमें है।

यद्यपि आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है और मूर्तिक इन्द्रियोंके अगोचर है। इसलिये सिवाय सर्वज्ञके अन्य कोई भी मनुष्य उसके स्वरूपको स्पष्ट नहीं जान सकता, तथापि दयालु पूर्वाचार्योंने अपने योगबलसे आत्माके कुछ असली स्वरूपका अनुभवकर अन्य मनुष्योंके लिये भी उसके अनुभवका द्वार बतलाया है और यह बात निस्संशय है कि उनके द्वारा बतलाये गये मार्गका अनुसरण करनेसे अवश्य आत्माके निर्दोष स्वरूपकी कुछ छटा हृदयपर अंकित हो जाती है। आजकल हम लोगोंका उपयोग व्यावहारिक बातोंकी ओर विशेषरूपसे जानेके कारण अध्यात्मज्ञानकी ओर न भी झुके तथापि इस बातको हम निस्संशय हो कह सकते हैं कि कुछ समय पहले भारतवर्षमें लोगोंकी अध्यात्मज्ञानमें विशेष रुचि थी और व्यवहारी मनुष्य भी अध्यात्म ज्ञानकी चर्चासे अपनेको धन्य समझते थे।

पाठक ! आज हम पुनः आपके करकमलोंमें **आत्मप्रबोध** नामका अनुपम ग्रंथ समर्पण करनेके लिये प्रस्तुत हुये हैं। इस ग्रन्थके निर्माणकर्ता विद्वच्छिरोमणि कविवर **श्री कुमार** हैं और ये इसीग्रन्थके १४९ वें श्लोकमें दिये गये कवि विशेषणसे गृहस्थ जान पड़ते हैं। यद्यपि यह ग्रंथ बहुत छोटा है क्योंकि इसकी श्लोक संख्या केवल १४९ है। परन्तु इसकी कविता बड़े ऊँचे दर्जेकी और स्फुट है और एक गृहस्थ (जैसा कि हमारा अनुमान है) विद्वान्का शुद्ध आत्माके विषयमें इतना उन्नत विचार होना परम प्रशंसनीय है।

---

१. यह प्रथम-आवृत्ति में 'आवेदन' के रूप में प्रकाशित हुआ था।

इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने जिसको आत्माका भलेप्रकार ज्ञान है वही दूसरेको आत्माका उपदेश दे सकता है। इसके साथ आत्माका स्वरूप, उसका लक्षण, उसके स्वरूपको बतलानेवाले प्रमाण, जीवोंको आत्मामें दृढ़ताका उपदेश, इंद्रजाल मंत्र आदि अविद्याओंकी निंदा, मन वचन कायको वशकर स्वाध्याय करना, स्वाध्यायकी परम प्रशंसा, ध्यानका माहात्म्य, ध्यानसे विचलित करनेवाली स्त्रियोंकी निंदा, पुत्र, धन, धान्य आदि परिग्रहोंसे घृणा, आठ प्रकारके मदोंकी निंदा, उनका कुछ स्वरूप, ध्यानके भेद और उनक स्वरूप, ध्यानके पात्र, ध्यानके पिंडास्पद, पदास्पद, रूपास्पद, और रूपातीत ये चार भेद और इनका भिन्न-भिन्न स्वरूप, ॐ शब्दकी व्युत्पत्ति, ॐ मंत्रकी उत्कृष्टता, अर्हं मंत्रका फल, ह्रीँ मंत्रका फल, परमात्माका स्वरूप, अन्य सिद्धांतकारों द्वारा मानेगये आत्मामें अरुचिपूर्वक, जैनसिद्धांतानुसार आत्मस्वरूपका निरूपण आदि बातोंका वर्णन किया है। यद्यपि ग्रंथकारने इन प्रकरणोंको बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया है तथापि उनके वर्णनमें ऐसी खूबी दिखाई है कि ग्रंथको छोड़नेके लिये जी नहीं चाहता और कथाओंके पढ़नेमें जितना आनन्द नहीं आता उससे भी अधिक आनन्द इसमें मालूम पड़ता है।

वशंवद

पं० गजाधरलाल जैन

ग्रन्थकार परिचय :

प्रस्तुत 'आत्मप्रबोध' ग्रन्थके रचयिता श्री कुमार कवि जातिसे ब्राह्मण होकर भी जैन सिद्धान्त के मर्मी और श्रद्धालु थे। उन्होंने अंतिम पद्य १४९ में यह लिखा है कि—मैं यह ग्रंथ आत्मप्रबोध के लिए लिख रहा हूँ। जिनको स्वयं आत्मबोध न हो उनको पर-बोधन का कुछ भी अधिकार नहीं है। इस अर्थ के प्ररूपक ग्रन्थ के श्लोक संख्या ४ और ५ हैं। उन्होंने उक्त श्लोकों में एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जो सरिता में तैरना नहीं जानता वह पर-तारण का उपदेश दे तो वह उसे छल रहा है। नेत्रवान ही मार्ग बता सकते हैं, स्वयं अंधा दूसरे को मार्ग पर कैसे ले जा सकेगा।

प्रथमावृत्ति की भूमिका में पं० गजाधरलाल जी ने लिखा है कि श्री कुमार कवि का समय वि० सं० १२९० से १३४७ का है। यद्यपि कविने अपना कोई परिचय आदि नहीं दिया तथापि ये कविवर हस्तिमल्ल जी के ज्येष्ठ भ्राता थे, यह 'दिगम्बर जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामक पुस्तिका, जो मुंबई से प्रकाशित हुई थी, उससे ज्ञात होती है।

कविवर हस्तिमल्ल जी पर एक शोधप्रबंध 'जैन संदेश' के यशस्वी संपादक डॉ० कन्छेदीलाल जी ने लिखा है, जिसका प्रकाशन १९८० में प्राकृत जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) से हुआ है। आत्मप्रबोध के लेखक श्री कुमार कवि के पिता श्री गोविन्द भट्ट जी के छह पुत्र थे। १. श्रीकुमार कवि, २. सत्यवाक्य, ३. देवरवल्लभ, ४. उद्यद-भूषण, ५. हस्तिमल्ल और ६. वर्धमान। इनमें श्री कुमार कवि सबसे ज्येष्ठ और कविवर हस्तिमल्ल पंचम पुत्र थे। श्री गोविंद भट्ट उच्चकोटि के विद्वान् थे और उनके सभी पुत्र भी। हस्तिमल्ल जी द्वारा लिखित विक्रान्त कौरव, अञ्जना पवनंजय, मैथिली कल्याण और सुभद्रा–ये चार नाटक आज विद्यमान हैं। कुछ और भी इनकी रचनाएँ हैं। किन्तु श्री कुमार कवि की यही एक मात्र रचना उपलब्ध है। हो सकता है इनकी और भी कृतियाँ हों।

श्री कुमार कवि इस लौकिकता से परे उच्चकोटि के अध्यात्मिक विचारों के विद्वान् थे। यद्यपि ये संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, आदि विषयों तथा षड्दर्शन के विद्वान् थे, तथापि इनकी रुचि उन सबसे हटकर अध्यात्म में ही विशेष थी। ये संस्कार उन्हें अपने पिताजी से ही प्राप्त थे। ग्रन्थ के अनेक पद्यों में इसकी झलक मिलती है। वे जपी एवं मन्त्रवादी भी थे। ये इस ग्रन्थ के श्लोक सं० २० से ४० तक में यह तथ्य देखा जा सकता है! इनके पिता श्री गोविंद भट्ट जी भी षड्दर्शन के उद्भट विद्वान् थे। स्वामी समन्तभद्र के स्वयंभू-स्तोत्र एवं देवागमस्तोत्र के परायण से ही उनकी तर्कपूर्ण दृष्टि जैन शासन की ओर आकर्षित हुई और वे जैनधर्म के कट्टर श्रद्धालु बने थे। यद्यपि इनका भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ किन्तु उनके सुपुत्रों द्वारा जो जैन साहित्य का उत्कर्ष हुआ है वह उक्त पंक्तियों की सत्यता को प्रमाणित करता है।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

KARAKCHAND JAIN.

PRANNERA

विषयानुक्रम

विषय	श्लोक संख्या
१. मंगलाचरण	१–२
२. ग्रन्थ रचना का उद्देश्य	३–६
३. आत्मज्ञान के लिए प्रस्थान पंचक	७
४. आत्मा का अस्तित्व	८
५. आत्मा का स्वरूप	९–१३
६. केवली के प्रत्यक्षज्ञान सम्य-सम्यक ही है	१४
७. सर्वज्ञ ही अमूर्त आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं	१५
८. आगम प्रमाणसे भी आत्मा सुप्रसिद्ध है	१६
९. आप्त-अनाप्त का लक्षण	१७
१०. अनुमान प्रमाण से आत्मसिद्धि	१८
११. लक्षण द्वारा आत्मसिद्धि	१९
१२. युक्ति, आगम और अनुभव से भी आत्मसिद्धि	२०
१३. आत्मज्ञानी ही मोक्ष लाभ करते हैं	२१
१४. आत्मज्ञान प्रकट करने वाला प्राणी विरल है	२२
१५. आत्मज्ञानी को कपटी साधुओं की संगति ठीक नहीं	२३–२४
१६. आत्मलीनता रहित तप आदि भी सिद्धिदायक नहीं	२५–२६
१७. मिथ्याभिमान से कोई सिद्धि नहीं होती	२७
१८. तर्क, वाद-विवाद, जल्प, वितण्डा से आत्मसिद्धि नहीं	२८
१९. पञ्चनमस्कार मंत्र में मोहपिशाच को शान्त करने की सिद्धि	२९
२०. शकुन आदि का ज्ञान भी आत्मसिद्धि साधक नहीं	३०
२१. साहित्यिक रसों से आत्मरस भिन्न है	३१
२२. बाह्यरंग में बहुत रंगे किन्तु आत्मरंग के ज्ञान से विमुखता	३२
२३. सांसारिक सुख यथार्थ नहीं, अतः आत्मविद्या प्राप्त करो	३३
२४. अध्यात्मविद्या ही संसार रूपी विषवृक्ष को उन्मूलक	३४
२५. पापफलोत्पादक अविद्या वेल को उखाड़ना श्रेयस्कर	३५
२६. अविद्या ही घोर अंधकार है	३६
२७. अविद्या नरक के अंधकूप में भटकाती है	३७
२८. क्षणभंगुर पदार्थों से कोई उपलब्धि नहीं	३८
२९. अविद्या का परिवार	३९
३०. अविद्या पिशाची के कार्य	४०
३१. अविद्या के वशीभूत जीव का नाटक	४१
३२. भेदज्ञान का प्रभाव	४२

विषय	श्लोक संख्या
३३. रातवन्ती विद्या को छोड़ असती अविद्या को क्यों अपनाते हो	४३
३४. अविद्या रूपी विषकन्या का त्याग तथा अध्यात्म विद्या का सम्मान	४४
३५. ध्यान रूपी नौका से अविद्या नदी पार की जा सकती है	४५
३६. अध्यात्म विद्या को प्रमाद छोड़कर अपनाओ	४६
३७. अध्यात्म के ध्यान से अन्तरंग शान्ति की प्राप्ति	४७
३८. अध्यात्मविद्या ही विद्या है	४८
३९. अध्यात्म प्राप्ति के ये दो साधन-ध्यान और स्वाध्याय	४९
४०. धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ का कारण स्वाध्याय	५०
४१. स्वाध्यायकी विधि और उसका फल	५१
४२. स्वाध्यायके लाभ	५२
४३. विनयपूर्वक जैनागमके स्वाध्यायका फल	५३
४४. स्वाध्यायके फलसे केवलज्ञानकी प्राप्ति	५४
४५. स्वाध्यायशील साधुके सभी व्रत निर्मल होते हैं	५५
४६. स्वाध्यायसे ही मुनिव्रत सफल हैं	५६
४७. स्वाध्यायके साथ ध्यान भी आलंबन हैं	५७
४८. समाधि रूपी जलसे आत्माकी निर्मलता	५८
४९. धर्म-शुक्ल ध्यान ही उपादेय हैं	५९
५०. कुगतिके कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान त्याज्य हैं	६०
५१. आर्तध्यानका स्वरूप एवं उसका फल	६१
५२. रौद्रध्यानका स्वरूप एवं फल	६२
५३. आर्त और रौद्र दोनों ध्यान त्याज्य हैं	६३
५४. कषाययुक्त ध्यान सन्मार्गमें बाधक	६४
५५. विषय विषका त्याग ही श्रेयस्कर	६५
५६. स्त्री संसर्ग विषलताके समान है	६६
५७. कामी पुरुषोंके लिए स्त्री विचित्रग्रह है	६७
५८. रागी व्यक्ति स्त्रियोंके कृत्रिम सौन्दर्य पर मुग्ध रहता है	६८
५९. सम्पूर्ण रूप-सौन्दर्य क्षणभंगुर है	६९
६०. संसार की सम्पूर्णसामग्री इन्द्रजालवत् है	७०
६१. स्वर्गकी तृष्णा मृगमरीचिका सदृश है	७१
६२. पंचेन्द्रियों की तृष्णाके दुःखदायी होनेका उदाहरण	७२
६३. शरीर तो समाधिका साधन है	७३
६४. क्रोधरूपी अग्नि को प्रशमभाव रूपी जलसे बुझाओ	७४

विषय	श्लोक संख्या
६५. विनय ही आठमदों को दूर करने का उपाय	७५
६६. रूपादि का अभिमान आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधक	७६
६७. माया कषाय सपेरे की पिटारी के समान है	७७
६८. धर्म और शुक्लध्यान से निर्वाण की प्राप्ति	७८
६९. ध्याता के तीन भेद	७९
७०. आरम्भक ध्याता का स्वरूप	८०
७१. आत्मा और मन का संवाद	८१
७२. तन्निष्ठ ध्याता का स्वरूप	८२
७३. तन्निष्ठ योगी का ध्यान	८३
७४. निष्पन्न ध्याता का स्वरूप	८४
७५. निष्पन्न योगी की स्थिरता	८५
७६. धर्म के विविध स्वरूपों का ध्यान भी धर्मध्यान है	८६
७७. धर्मध्यान के भेद	८७
७८. धर्मध्यान के भेदों का विवेचन	८८
७९. आज्ञाविचय धर्मध्यान का स्वरूप	८९–९०
८०. अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप	९१
८१. विपाक विचय धर्मध्यान का स्वरूप	९२
८२. संस्थान विचय का स्वरूप	९३
८३. धर्मध्यान की परम विशुद्धता ही शुक्लध्यान की भूमिका	९४
८४. शुक्लध्यान के चार भेद	९५
८५. किस गुणस्थान में कौन-कौन ध्यान	९७–१०१
८६. अन्य प्रकार से ध्यान के भेद	१०२–१०३
८७ पिण्डस्थध्यान की विधि	१०४
८८. पिण्डस्थध्यान ध्यान की दूसरी विधि	१०५
८९. पिण्डस्थध्यान की तीसरी विधि	१०६
९०. पदस्थध्यान का स्वरूप	१०७
९१. पंचपरमेष्ठी वाचक अ-सि-आ-उ-सा-ॐ-मंत्र—	१०८–११२
९२. इस मन्त्र के निरन्तर ध्यान से पंचमगति की प्राप्ति	११३
९३. 'ॐ' प्रणव मंत्र परमेष्ठी वाचक है	११४
९४. सिद्धि के लिए रत्नत्रयमय ओंकार का ध्यान	११५
९५. 'ओम्' अक्षर त्रिलोक का भी वाचक है	११६
९६. 'ओम्' शब्द की पंचज्ञान-रूपता	११७

विषय	श्लोक संख्या
९७. 'अर्हं' मंत्र रत्नत्रय वाचक	११८
९८. 'अर्हं' में अ से ह तक सम्पूर्ण शब्दब्रह्म का समावेश	११९
९९. 'अर्हं' मंत्र की आराधना मोक्षदायनी है	१२०
१००. 'अर्हं' मंत्र की रेफ रागनाशक	१२१
१०१. ह्रीं बीजाक्षर का स्वरूप	१२२
१०२. अपराजित णमोकार महामंत्र के ध्यान की प्रेरणा	१२३
१०३. णमोकार मंत्र की आराधना निरन्तर आवश्यक	१२४
१०४. रूपस्थ ध्यान का स्वरूप	१२५
१०५. रूपस्थ ध्यान में ध्येय वस्तु का स्वरूप	१२६
१०६ रूपस्थ ध्यानका स्वरूप	१२७
१०७. रूपातीत ध्यान का स्वरूप	१२८
१०८. अध्यात्मविद्या से ही सिद्ध देखे जा सकते हैं	१२९
१०९. सिद्ध परमात्माका स्वरूप	१३०
११०. परमात्मा अनन्तानन्त पदार्थों के ज्ञाता हैं	१३१
१११. परमात्मा का स्वरूप ५ छंदों में	१३३–१३६
११२. श्रुतदेवता से भी परमात्माका पूर्ण विवेचन असम्भव	१३७
११३. आत्मतेज ही अज्ञानान्धकार का नाशक है	१३८
११४. आत्मज्ञान के लिए आत्मदीप ही कार्यकारी	१३९
११५. मोहान्धकारका विनाश आत्मज्योतिसे होता है	१४०
११६. ज्ञानशक्ति आत्मासे अभिन्न ही है	१४१
११७. रत्नत्रय आत्मासे अभिन्न है	१४२
११८. मोक्षलक्ष्मी अध्यात्मविद्यामें स्थित पुरुषका ही वरण करती है	१४३
११९. मुक्ति (मोक्ष) का स्वरूप	१४४
१२०. मुक्तावली का स्वरूप	१४५
१२१. आत्मबोध प्राप्त योगियों को मेरा विनम्र नमन	१४६
१२२. आत्म प्रबोधकी सार्थकता	१४७
१२३. आत्मप्रबोध रूप तिलकसे ही सभी विद्यायें शोभा पाती हैं	१४८
१२४. ग्रन्थ रचना का उद्देश्य एवं उपसंहार	१४९

BARAKCHAND JAIN,

PRANHERA

॥ श्री शुद्धात्मने नमः ॥

श्री कुमार कवि विरचित

आत्मप्रबोधः

आत्मानमात्मनि निरंजनमात्मनैव
पश्यन् ददर्श निखिलान्यपि योऽगन्ति ।
पुंसामतींद्रियदृशामपि दूरदृश्यं
तं विश्वदर्शिनमनश्वरमानतोऽस्मि ॥१॥

अन्वयार्थ—**निरञ्जनम् आत्मानं**—अपनी कर्म कालिमा रहित शुद्धात्मा को, **आत्मनि-आत्मना एव**—अपनी आत्मामें अपने आत्मज्ञानके द्वारा ही **पश्यन्**—देखते हुए-प्रत्यक्ष जानते हुए, **निखिलानि अपि जगन्ति**—सम्पूर्ण लोकको, **यो**—जिसने, **ददर्श**—देखा है। **तं**—उस, **अतीन्द्रिय दृशाम् अपि**—अवधि, मनःपर्यय आदि अतीन्द्रिय ज्ञानोंके लिए भी, **दूरदृश्यम्**—दृश्य न होनेवाले, **अनश्वरम् विश्व दर्शिनम्**—अनश्वर विश्वदर्शी परमात्माके प्रति, **आनतोऽस्मि**—मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अर्थ—जो परमात्मा अपनी निष्कलंक आत्माको अपनेसे ही अपनेमें देखकर समस्त जगतको स्पष्टरूपसे देखता है और जिसके स्वरूपको हमारी तो क्या बात, अतींद्रिय ज्ञानरूपी दृष्टिके धारक भी योगी नहीं देख सकते उस विश्वदर्शी-सर्वदृष्टा, अनश्वर-अविनाशी परमात्माके लिये नमस्कार है।

भावार्थ—जैन सिद्धांतमें गुण-गुणी का सर्वथा भेद नहीं माना गया है। निश्चयनयसे वे एक ही हैं इसलिए जितने आत्माके केवलदर्शन, केवलज्ञान आदि गुण हैं उनसे आत्मा कोई जुदा पदार्थ नहीं है और इसीलिये यदि वह (आत्मा) केवलदर्शन या केवलज्ञानसे स्वयंको तथा परपदार्थोंको देखता जानता है तो अपनेसे ही देखता जानता है ऐसा कहा जाता है। इसी आशयको हृदयमें रखकर ग्रंथकारने "जो अपनेसे ही अपनेमें अपने शुद्धस्वरूप और परद्रव्योंको देखने जाननेवाला है जिसके स्वरूपको दिव्यज्ञानी भी कठिनतासे देख सकते हैं ऐसे सर्वदर्शी अविनाशी परमात्माके लिये नमस्कार है" यह परमात्माकी स्तुति की गई है ॥१॥

आत्मप्रबोधमधिगम्य परप्रबोधं
ये संविधाय विदधुः स्वपरार्थसिद्धिं ।
व्यामोहविभ्रमभरच्छिदुरा गुरुभ्य-
स्तेभ्यो मम प्रणतिरस्तु परापरेभ्यः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—**आत्मप्रबोधम्-अधिगम्य**—अपने स्वात्म ज्ञानको पाकर, **ये**—जो गुरुजन, **परप्रबोधम्-संविधाय**—परको सम्बोधित कर, **स्वपरार्थ सिद्धिम्**—अपने और परके प्रयोजनको सिद्ध, **विदधुः**—करने वाले हुये हैं। **और व्यामोह विभ्रमभरच्छिद्**—जिन्होंने लोगोंके मिथ्यात्व जन्य भ्रमको नष्ट कर दिया है, **तेभ्यः परापरेभ्यः गुरुभ्यः**—उन परापर गुरुजनोंको भी, **उरा**—हृदयसे, **मम प्रणतिरस्तु**—मेरा प्रणाम हो ॥ २ ॥

अर्थ—जिन गुरुओंने अपनी आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर दूसरे मनुष्योंको भी उसके स्वरूपका प्रतिबोध दिया, अपने पराये प्रयोजन सिद्ध किये और जो मूढ़ता भ्रांतिके सर्वथा नष्ट करनेवाले हुये उन परापर गुरुओंके लिये भी हमारा सविनय नमस्कार है।

भावार्थ—जो गुरु अपनी आत्माका स्वरूप न समझकर दूसरोंको उसके समझानेकी चेष्टा करते हैं उन गुरुओंके नमस्कारकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु जो अपने स्वरूपको भलीभांति समझकर पीछे उसे दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं और उसमें सफल हो मूढ़ता एवं भ्रांतिको सर्वथा नष्ट करनेवाले होते हैं उन गुरुओंको भक्तिभावसे नमस्कार है ॥ २ ॥

नास्ति श्रुते परिणतिः प्रतिभा न तादृग्
वक्तृत्वभंगिरपि न प्रतिपादिका मे ।
शक्तिर्न बोधयितुमन्यजनं किमन्य-
दात्मप्रबोधमधुना प्रथमं करोमि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—**मे**—मेरा, **श्रुते परिणतिः**—शास्त्रज्ञानमें, **न**—नहीं है, **न तादृग् प्रतिभा अस्ति**—और न उस प्रकारकी प्रतिभा है, **वक्तृत्व भंगिरपि**—मेरी वक्तृत्व कला भी, **न प्रतिपादिका**—उस प्रकार वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली भी नहीं है, **न अन्यजनम्-बोधयितुम् शक्तिः**—और न अन्य पुरुषोंको सम्बोधित करनेकी शक्ति है,

किम् अन्यत्—और क्या कहूँ ? **अधुना**—इस समय, **प्रथमं**—सर्वप्रथम, **आत्मप्रबोधम् करोमि**—मैं अपने सम्बोधनके लिए (इस आत्मप्रबोध ग्रन्थकी ही) रचना करता हूँ ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं (ग्रन्थकार) न तो विशेषरूपसे शास्त्रोंका ज्ञाता हूँ। न मेरी चमत्कारिणी बुद्धि है। मेरी बोलनेकी शैली भी ऐसी उत्तम नहीं है जो मैं भले प्रकार पदार्थोंका स्वरूप वर्णन कर सकूँ और दूसरे मनुष्यको मैं प्रबोध दूँ। ऐसी मुझमें शक्ति भी नहीं है। बस ! और अधिक क्या कहूँ, पहले ही पहले मैं इस आत्मप्रबोध ग्रन्थकी ही रचना कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

आत्मप्रबोधविरहाविशुद्धबुद्धे-
रन्यप्रबोधनविधि प्रति कोऽधिकारः ।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य
तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—यथार्थमें **आत्मप्रबोध-विरहात्**—आत्मज्ञानसे रहित, **अविशुद्ध बुद्धेः**—निर्दोष बुद्धिसे विरहित जनको, **अन्य प्रबोधन विधिम्**—दूसरेको प्रतिबोध करनेका, **कः अधिकारः**—क्या अधिकार है ? जैसे कि—**यस्य सरितः तरितुम्**—जिसको, नदीमें तैरनेकी, **सामर्थ्यम् न अस्ति**—स्वयं-की शक्ति नहीं है वह, **परतारणोक्तिः**—दूसरोंको तरना सिखानेकी बात कहे तो, **तस्य प्रतारणपरा उक्तिः**—उसका कथन दूसरेको छलने वाला है ॥ ४ ॥

अर्थ—नदीको तैरकर पार करनेकी सामर्थ्य न रखनेवाला मनुष्य, यदि दूसरोंको तैरनेका उपदेश (शिक्षा) दे तो जैसा उसका वह उपदेश वंचक उपदेश समझा जाता है—कोई मनुष्य उसके उपदेशपर विश्वास नहीं करता उसी प्रकार जिसकी आत्मा स्वयं प्रबुद्ध नहीं है और बुद्धि भी परद्रव्यके सम्पर्कसे मलिन है वह मनुष्य यदि दूसरोंको प्रबोध दे— मोक्ष का मार्ग बतलावे तो उसका उस प्रकार का प्रबोध देना भी विश्वास के योग्य नहीं है—अप्रबुद्ध पुरुष दूसरोंको प्रबोध देनेका अधिकार नहीं रख सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार तैरनेके स्वरूपको जाननेवाले मनुष्यका तैरनेका उपदेश प्रामाणिक माना जाता है और वह उपदेश फलप्रद भी होता है किन्तु जिसने कभी तैरना नहीं सीखा, तैरनेकी तो क्या बात, उसे आँखोंसे देखा तक भी नहीं, उसका उपदेश प्रामाणिक नहीं गिना जाता और न उससे कुछ फल ही

निकलता है उसी प्रकार अच्छी तरह आत्माके स्वरूपको जाननेवाले और निर्मल बुद्धिके धारक मनुष्यका आत्माके स्वरूपका उपदेश विश्वासके योग्य होता है परन्तु जो जरा भी आत्माका स्वरूप नहीं जानता, बुद्धि भी जिसकी मलिन है उसके उपदेश पर कोई मनुष्य विश्वास नहीं करता—यह मनुष्य विद्वानोंकी दृष्टिमें वंचक, ढोंगी समझा जाता है इसलिये जो मनुष्य आत्माके स्वरूपका ज्ञान दूसरोंको कराना चाहते हैं उन्हें पहिले स्वयं उसका ज्ञान करना चाहिए ॥ ४ ॥

कर्तुं यदीच्छसि परप्रतिबोधकार्य-
मात्मानमुन्नतमते ! प्रतिबोधय-त्वं ।
चक्षुष्मतैव पुरमध्वनि याति नेतु-
मंधेन नांध इति युक्तिमती जनोक्तिः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—अतएव, **हे उन्नत मते**—उन्नति की इच्छा करने वाले हे आत्मन्, **यदि परं प्रतिबोध कार्यम्**—दूसरेको संबोधित करनेको, **यदि इच्छसि**—यदि तुम्हारी इच्छा हो तो, **त्वं आत्मानं प्रतिबोधम्**—तुम अपनी आत्माको सर्वप्रथम प्रतिबुद्ध करो। यह जन प्रसिद्ध है कि, **चक्षुष्मता एव**—चक्षुवान् पुरुषके द्वारा ही, दूसरे व्यक्तिको, **पुरम्**—नगर जानेमें, **अध्वनि नेतुम्**—मार्गपर चलनेमें, **याति**—ले जाया जा सकता है, **अंधेन अंधः न**—स्वयं अंधा दूसरे अंधेको मार्गपर नहीं ले जा सकता। **इति जनोक्तिः** यह लौकिक प्रसिद्ध उक्ति, **युक्तिमती**—युक्ति-युक्त है ॥ ५ ॥

अर्थ—हे उच्चबुद्धिके धारक आत्मन् ! यदि तू दूसरे मनुष्योंको प्रतिबोध देना चाहता है—अन्य मनुष्य आत्माका भले प्रकार स्वरूप समझ जावें यदि तेरी यह इच्छा है, तो तू पहिले अपनी आत्माको प्रतिबुद्ध बना—उसे आत्मस्वरूपका जानकार कर। क्योंकि लोग ऐसा कहते हैं और उनका यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त भी है कि सूझता (दृष्टियुक्त) मनुष्य ही अंधेको सुरक्षित रूपसे मार्ग में ले जा सकता है, अंधा अंधेको नहीं।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्रवाले पुरुषोंको मार्ग अच्छी तरह सूझता है इसलिए वह अंधेको ठीक ठिकाने पहुँचा देता है परन्तु अंधा अंधेको नहीं। क्योंकि, उसे जरा भी मार्ग नहीं सूझता। उसी प्रकार हे आत्मन् ! यदि तू भले प्रकार आत्माके स्वरूपका जानकार होगा तो दूसरेको उसका ज्ञाता बना सकेगा, अज्ञानी होनेपर नहीं। इसलिये पहिले तू आत्मस्वरूपका जानकार बन,

पीछे दूसरोंको उसके ज्ञाता बनानेका प्रयत्न कर। अन्यथा तू डूबेगा सो तो डूबेगा ही, अन्य भी मनुष्योंको और डुबा बैठेगा ॥ ५ ॥

मिथ्यात्वमूढमनसः सततं सुषुप्ता
ये जंतवो जगति तान्प्रति न श्रमो नः ।
येषां वियासुरचिरादिव मोहनिद्रा
ते योग्यतां दधति निश्चितमात्मबोधे ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—**मिथ्यात्व मूढ मनसः**—मिथ्यात्वके द्वारा जिनकी मनोवृत्ति मोहित है। **ये**—और जो, **सततं सुषुप्ता**—आत्महितमें सो रहे हैं-जागरूक नहीं हैं, ऐसे, **जगति जंतवो**—जगत्में प्राणी हैं, **तान् प्रति नः श्रमः न**—उनके लिए यह परिश्रम नहीं किया जा रहा है किन्तु, **येषां**—जिनकी **मोह निद्रा**—मोहरूपी नींद, **अचिरात् वियासुः**—शीघ्र नष्ट होने वाली है ऐसे, **ते**—वे व्यक्ति, **आत्मबोधं**—आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें, **निश्चितम् योग्यताम् दधति**—निश्चत रूपसे योग्यता रखते हैं ॥ ६ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि जो जीव मिथ्यात्वसे मूढ़ है—जिनवचन और जिनशास्त्रों पर जरा भी श्रद्धान नहीं करनेवाले हैं और सुषुप्त है—मोहकी गाढ़ निद्रामें गहरी नींद ले रहे हैं उनके लिए हमारा यह परिश्रम नहीं है—इस आत्मप्रबोध ग्रन्थकी रचना हम उनके लिये नहीं करते हैं। किन्तु जिनकी मोहरूपी निद्रा बहुत जल्दी नष्ट होनेवाली है—शीघ्र ही जो निर्मोही होनेवाला है वे ही इस आत्मप्रबोध ग्रन्थके अधिकारी है—उन्हींके लिये यह परिश्रम किया जा रहा है ॥ ६ ॥

जीवस्वरूपमनुरूपकमस्य चिह्नं
त्यागोऽथ शश्वदहितस्य हिते प्रवृत्तिः ।
योग्यं तयोः फलमिति स्फुटमात्मविद्भिः
प्रस्थानपंचकमुदीरितमात्मबोधे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—**जीवस्वरूपम्**—जीवका स्वरूप, **अस्य अनुरूपकम् चिह्नम्**—इसके स्वरूपका निदर्शन कराने वाले चिह्न, **अथ**—तथा, **शश्वत्**—निरन्तर, **अहितस्य त्यागः**—अहित मार्गका त्याग तथा, **हिते प्रवृत्तिः**—अपने हितके मार्गमें जिनकी रुचि है तथा, **तयोः योग्यम् फलम्**—उन

दोनों हिताहितके फलको जानना, इस तरह **आत्म विद्भिः**—आत्माके ज्ञाता गुरुओंने, **स्फुटम्**—स्पष्ट रूपसे, **आत्मबोधे**—आत्मज्ञानके लिए, **प्रस्थानपंचक**—ये पाँच उपायोंकी प्रस्थापना, **उदीरितम्**—की है ॥ ७ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्होंने आत्माके बोधमें 'जीवका वास्तविक स्वरूप, उसकी पहिचानके चिह्न, अहितका त्याग, हितमें प्रवृत्ति और हित-अहित दोनोंका फल'—ये पाँच स्थान-कारण बतलाये हैं।

भावार्थ—जबतक आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है यह बात न जान ली जायगी, उसके जाननेके चिह्न न पहचान लिये जायेंगे, अहितका त्याग, हितमें प्रवृत्ति और उन दोनोंका फलज्ञान न होगा तबतक कभी भी आत्माका बोध नहीं हो सकता इसलिये जो मनुष्य अपनी आत्माको प्रबुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इन पाँच बातोंपर अवश्य ध्यान दें ॥ ७ ॥

निर्वाणवादिभिरपि प्रतिपत्तिपूर्व-
मस्तित्वमात्मविषये प्रतिपन्नमास्ते ।
नास्तीति नास्तिकतया यदि केचिदाहुः
किं मे मुमुक्षुमुनिवृंदबहिः कृतैस्तैः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—**निर्वाण वादिभिः अपि**—जो मोक्ष मानते हैं वे, **प्रतिपत्ति पूर्वम्**—युक्ति पूर्वक, **आत्मविषये**—आत्माके संबंधमें, **अस्तित्वम् प्रतिपन्नम् आस्ते**—अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। **ये केचित् नास्तिकतया**—जो वादी नास्तिक होनेसे, **नास्तीति आहुः**—आत्माको स्वीकार नहीं करते, **मुमुक्षुमुनिवृन्दबहिः कृतैः**—मोक्षको चाहना करने वाले मुनि वृन्दोंसे बहिर्भूत, **तैः**—उन नास्तिकोंसे, **किं मे**—हमें कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष निर्वाण आदि है–मोक्ष कोई पदार्थ है—इस बातको पूर्ण-रूपसे माननेवाले हैं वे युक्तिपूर्वक आत्माका अस्तित्व अवश्य स्वीकार करते हैं। परन्तु नास्तिक लोग स्वर्ग, मोक्ष आदि पदार्थोंको न मानकर आत्माका अस्तित्व नहीं मानते। खैर! मत मानो। उनके न माननेसे कोई हानि नहीं आ सकती; क्योंकि वे मोक्षाभिलाषी मुनिगणसे भिन्न हैं। वे बिचारे 'आत्मा निराकुलतामय सुखका कैसे अनुभव करता है?' इस बातको ही नहीं जानते।

भावार्थ—जितने नैयायिक, वैशेषिक वेदान्ती आदि हैं वे सब इस बातको

स्वीकार करते हैं कि जड़ पदार्थोंसे भिन्न आत्मा कोई पदार्थ है और वे उसका मोक्ष, स्वर्ग जाना भी मानते हैं। किन्तु एक नास्तिक ऐसा है जो कि आत्माको भिन्न पदार्थ नहीं मानता। पृथ्वी, जल आदि पंचभूतोंसे उत्पन्न शक्ति विशेषको ही आत्मा कहता है और स्वर्ग, मोक्ष आदि पदार्थोंको भी वह स्वीकार नहीं करता किन्तु इस लोकमें मेवा, मिष्टान्न, उत्तम स्त्री, पुत्र आदि पदार्थोंकी प्राप्ति को ही स्वर्ग-मोक्ष कहता है। परन्तु उसके न स्वीकार करनेसे कोई हानि नहीं। क्योंकि वह अज्ञानी है, वह यही नहीं जानता कि मेरी आत्माका कल्याण किस रीति से हो सकता है॥ ८॥

आत्माका स्वरूप—

● नित्यो निरत्ययगुणः परिणामधाम
बुद्धो बुधैर्दृगवबोधमयोपयोगः।
आत्मा वपुः प्रमितिरात्मपरप्रमाता
कर्ता स्वतोऽनुभवितोऽयमनंतसौख्यः॥ ९॥

अन्वयार्थ—**आत्मा**—यह जीवात्मा, **नित्यः**—अनाद्यनन्त है, **निरत्ययगुणः**—इसके गुण भी अविनश्वर हैं तथापि, **परिणाम धाम**—पर्याय परिवर्तन स्वभावी भी है, **बुधैः**—ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा वह ज्ञात है। **दृगवबोधमयोपयोगः**—दर्शन-ज्ञान स्वभावी है अतः उपयोगमय है। **वपुः प्रमितिः**—संसारी जीव प्राप्त हुए अपने-अपने शरीरके बराबर हैं, **आत्म परप्रमाता**—स्व और परका ज्ञाता है, **कर्ता स्वतोऽनुभविता**—कर्मका कर्ता तथा उसके फलका अनुभव करने वाला है तथा, **अयम्**—यह आत्मा, **अनन्त सौख्यः**—अनन्त सुखका, (स्वभावसे स्वयं) खजाना है॥ ९॥

अर्थ—यह आत्मा नित्य है। अविनाशी गुणोंका भण्डार है। परिणमनशील है। विद्वान् लोगों द्वारा जाना और अनुभव किया जाता है, ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगमय है, शरीरप्रमाण है, स्व-परका ज्ञाता है, कर्ता है, कर्मके फलका भोक्ता है और अनन्त सुख का भण्डार है।

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कभी आत्माका नाश नहीं हो सकता इसलिये यह नित्य अविनाशी है। सम्यग्ज्ञान आदि गुण इसके कभी नष्ट नहीं होते इसलिये यह नित्य गुणोंका भण्डार है। पर्यायार्थिकनयसे सदा इसका परिणमन हुआ करता है। सर्वज्ञ अपने आनन्द और ज्ञानसे, विद्वान् मनुष्य अपने स्वानुभव प्रत्यक्षसे इसका साक्षात्कार करते हैं। यह भले प्रकार पदार्थोंको जानता-देखता है, इसलिये ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगमय है। पर्यायार्थिकनयसे इसकी सर्वदा पर्यायें पलटा करती हैं—इसलिये यह जितना छोटा-बड़ा

शरीर पाता है उसीके प्रमाण है। स्व और परको जानता है इसलिये स्वपरका ज्ञाता, स्वयं कर्मोंका उपार्जन करता है इसलिये कर्मोंका कर्ता, स्वयं कर्मोंके फलका भोगनेवाला होनेसे भोक्ता और निराकुलतामय अनन्त सुखोंका भण्डार है ॥ ९ ॥

नायं जडो न मलिनः क्षणिको न शून्यो
नात्मज्ञ एव नियमान्न परज्ञ एव ।
अस्य स्वरूपमथ तत्त्वविधेर्विमर्शात्
प्रागुक्तयुक्तिघटितां घटनामुपैति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—**अयं**—यह आत्मा, **न जड़ः**—जड़-अचेतन नहीं है, **न मलिनः**—न मलिन है अर्थात् शुद्ध है, **न क्षणिकः**—क्षणस्थायी नहीं है अर्थात् नित्य है, **न शून्यः**—शून्य रूप-अभाव रूप नहीं है अर्थात् सद्भाव रूप है। **न आत्मज्ञः**—यह केवल अपना ही बोधक नहीं है, **न परज्ञ एव**—और केवल परका ज्ञायक है ऐसा भी नहीं है किन्तु, **अस्य स्वरूपम्**—इसका स्वरूप, **तत्त्व विधेर्विमर्शात्**—तत्व दृष्टिसे विचार करनेपर, **प्रागुक्त युक्ति घटितां**—पूर्व कथित युक्तियों द्वारा बताए हुए, **घटनाम् उपैति**—स्वरूप रूप ही है ॥ १० ॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी भले प्रकार परीक्षा करनेसे इस बातका पक्का निश्चय हो गया है कि न यह आत्मा जड़ है, न मलिन है, न क्षणिक और न शून्य है। केवल अपना ही जाननेवाला या पर ही का जाननेवाला है ऐसा भी नहीं है। किन्तु पहिले जो अविनाशी गुणोंका भण्डार आदि बतला आये हैं वैसा ही है।

भावार्थ—कोई दार्शनिक मानता है कि यह आत्मा पृथ्वी आदि जड़ पदार्थोंके संसर्गसे उत्पन्न हुआ है इसलिये जड़ है। कोई कहता है यह कर्ममलसे सदा ढका रहता है इसे ऐसा कभी अवसर नहीं मिल सकता जब कि यह कर्मोंसे रहित हो जाय इसलिये यह सदा मलिन है। बौद्ध मानता है कि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं, आत्मा भी पदार्थ होनेसे प्रतिक्षण विनाशीक है इसलिये क्षणिक है। शून्यवादी कहता है कि संसारमें कोई पदार्थ विद्यमान नहीं, इसलिये उसके मतसे आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं है। कोई कहता है कि आत्मा अपने ही को जानता है और कोई कहता है कि परपदार्थोंको ही जानता है। परन्तु ये सब बातें प्रमाणबाधित हैं। तर्क बलसे जड़ आदि स्वरूप आत्मा कभी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १० ॥

आस्ते स्वभावविशदोऽपि कलंकितोऽय-
मंतर्निलीनघनकार्मणकालिकाभिः ।
जीवः सुवर्णवदुदग्रतपोऽग्नितप्तः
स्वं ज्योतिरप्रतिहतप्रसरं तनोति ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—अयम्—यह आत्मा, **स्वभाव विशदः अपि**—स्वभावसे स्वच्छ होनेपर भी, **कलंकितः अन्तर्निलीन-घन-कार्मण-कालिकाभिः**—कर्मके सम्बन्धसे अन्तरंगमें कालिमा सहित, **आस्ते**—वर्तमानमें पाया जाता है, **जीवः**—यह जीव, **सुवर्णवत्**—सुवर्णकी तरह, **उदग्रतपोऽग्नितप्तः**—प्रज्वलित अग्निके समान उग्रतप द्वारा तप्त हो, **अप्रतिहत प्रसरं**—जिसका फैलाव-विस्तार रोका नहीं जा सकता ऐसी, **स्वं ज्योतिः**—आत्म-ज्योतिको, **तनोति**—विस्तृत करता है ॥ ११ ॥

अर्थ—यह आत्मा सुवर्णके सदृश (समान) है। क्योंकि सुवर्ण जिस प्रकार स्वभावसे स्वच्छ रहनेपर भी कीटक आदिके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है और जिस समय अग्निसे तपाया जाता है उस समय ज्योंका त्यों शुद्ध हो दमक निकलता है, जिससे कि चारों ओर उसकी दीप्ति छटकने लगती है उसी प्रकार यदि शुद्ध निश्चयनय से देखा जाय तो यह आत्मा शुद्ध निष्कलंक है और कर्मोंके घनिष्ट संपर्कसे यह मलिन हो रहा है परन्तु जिस समय यह तपरूपी अग्निसे कर्मोंको भस्म कर देता है उस समय यह ज्योंका त्यों हो जाता है, चारों ओर इसका अप्रतिहतरूपसे प्रकाश फैल जाता है अर्थात् अपने केवलज्ञान और केवल-दर्शनकी सहायतासे यह संसारके छोटे बड़े सब पदार्थोंको जान देख लेता है ॥ ११ ॥

मूढैरनादिघनसंघटनप्ररूढो
भिन्नोऽप्यभिन्न इति कर्ममलोऽभ्यधायि ।
भिन्नो न चेत्कथमिवामलकेवलार्चि-
रस्याभ्युदेति हृतकार्मणसंचयस्य ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—मूढैः—अज्ञानी जनों ने, **अनादिघन संघटन प्ररूढः**—अनादि कालसे जीवके साथ दृढ़ रूपसे सम्बद्ध, **कर्ममलः**—कर्म रूपी मलको जो, **भिन्नः अपि**—आत्माके स्वरूपसे भिन्न है उसे, **अभिन्न इति अभ्यधायि**—आत्मासे सर्वथा अभिन्न मान लिया है। यदि वह, **भिन्नः न चेत्**—आत्मा-

से भिन्न जड़ पदार्थ न होता तो, **हतकार्मणसंचयस्य**—कर्म समूहको नाश कर देनेपर, **अस्य**—इस जीवके, **अमल केवलार्चिः**—निर्मल केवलज्ञान रूपी किरणें, **कथं अभ्युदेति**—कैसे उदयको प्राप्त होगीं ? ॥ १२ ॥

अर्थ—विषय आदि कार्योंके सेवन करनेसे वृद्धिको प्राप्त यह कर्ममल अनादिकालसे जीवोंके साथ संबद्ध हो रहा है और आत्मासे सर्वथा जुदा है। परन्तु जो पुरुष, मोहके जालमें फँसे हुये मूढ़ हैं वे उसे अभिन्न मानते हैं—उनकी दृष्टिमें आत्मा और कर्म एक हैं, किन्तु वह उनकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि, यदि कर्म भिन्न नहीं होता तो जिस समय यह जीव समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है उस समय इसके अतिशय देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी विभूति छटकती हुई दृष्टिगोचर न होती।

भावार्थ—यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा शुद्ध निष्कलंक है। परन्तु कर्मोंके द्वारा गाढ़रूपसे आच्छन्न होनेके कारण इसके केवलज्ञान आदि स्वरूपका विकास नहीं होता किन्तु जिस समय तप आदिके बलसे इसके कर्म नष्ट हो जाते हैं उस समय इसका स्वरूप प्रकट हो जाता है और इसे संसारके समस्त पदार्थोंके जानने देखनेमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ता। यदि कर्म और आत्माको अनादिकालसे आपसमें एकमेक जानकर सर्वथा एक मान लिया जायगा तो इससे कर्म कभी जुदे न होंगे। इसका केवलज्ञान आदि स्वरूप भी विकसित न होगा और कर्मोंसे सदा मलिन रहनेके कारण यह निराकुलतामय शाश्वत सुखका भी अनुभव नहीं कर सकेगा। इसलिये मानना पड़ेगा कि कर्म और आत्मा कभी भी एक नहीं हो सकते ॥१२॥

देही यथा निगदितो नियमात्तथेति
पक्षो न मूढगमकैः प्रतिबाधितोऽयं।
त्रेधा प्रमाणमिह साधकमस्ति यस्मात्
प्रत्यक्षमाप्तवचनं च तथानुमानं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—**देही**—देह स्थित होनेपर भी, **यथा निगदितः**—इसका शुद्ध स्वरूप जिस प्रकार पूर्वमें कहा गया है वह, **नियमात् तथा इति**—नियमसे उसी प्रकारका है, **अयं**—यह, **पक्षः**—कथन, **मूढ गमकैः**—मोही अज्ञानी वादियों द्वारा, **न प्रतिबाधितः**—खण्डित नहीं होता, **यस्मात्**—क्योंकि, **इह**—आत्माकी सिद्धिमें, **त्रेधा साधकं प्रमाणं अस्ति**—तीन प्रकार के साधक प्रमाण हैं। **प्रत्यक्षं आप्त वचनं तथा अनुमानं च**—प्रथम स्व संवेदन प्रत्यक्ष, दूसरा जिनेन्द्र—आप्तका वचन अर्थात् आगम, तीसरा अनुमान प्रमाण भी है ॥१३॥

अर्थ—जैसा हमने पहले संसारी आत्माका स्वरूप प्रतिपादित किया है वह वैसा ही है हमारा वह पक्ष किसी भी प्रतिवादी के अभिमत प्रमाणसे बाधित नहीं हो सकता। क्योंकि, उसको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्ष, आगम और अनुमान —ये तीन प्रमाण मौजूद हैं।

भावार्थ—आत्मा नित्य अविनाशी गुणोंका भण्डार है और ज्ञान आदि स्वरूप है यह बात सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानसे सर्वथा निश्चित है। आगम-प्रमाण भी इसी बातका प्रतिपादन करता है और अनुमानसे भी यह बात सिद्ध होती है। इसलिये आत्माका नित्यत्व, उपयोगमयत्व आदि स्वरूप जो हमने बतलाया है वह निर्दोष और अबाधित है॥ १३॥

केवलीके प्रत्यक्षज्ञान सम्य-गम्यक ही है यह प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्यक्षमक्षजनितं न जनस्य साक्षा-
ल्लक्ष्यीकरोति तमलक्ष्यमतींद्रियत्वात्।
स्पर्शाद्यशेषविषयव्यतिरिक्तरूपं
संविद्रते विसदृशं कथमिंद्रियाणि॥ १४॥

अन्वयार्थ—**तं अलक्ष्यं**—उस अलक्ष्य आत्माको, **अक्षजनितं प्रत्यक्षम्** इन्द्रियों द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान, **जनस्य**—लोकको, **न साक्षात् लक्ष्यीकरोति**—साक्षात् लक्ष्यमें नहीं आता अर्थात् वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है। कारण वह, **अतींद्रियत्वात्**—अतीन्द्रिय रूप है। **स्पर्शाद्यशेषविषय व्यतिरिक्तरूपं**—स्पर्शन आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंसे, **विसदृशं**—सर्वथा भिन्न उस आत्माको, **इन्द्रियाणि**—ये पाँचों इन्द्रियां भी, **कथं संविद्रते**—कैसे जान सकती हैं॥ १४॥

अर्थ—यह नित्यत्व आदि आत्माका स्वरूप अतीन्द्रिय है-इन्द्रियां इसे विषय नहीं कर सकतीं, इसलिये यह इंद्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञानसे नहीं जाना जा सकता। ठीक भी है क्योंकि जिस पदार्थमें स्पर्श, रस, गंध आदि गुण हों उसी-को इन्द्रियां जान सकती हैं, अन्यको नहीं और यह आत्मस्वरूप स्पर्श आदि पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है तथा स्पर्श आदि पदार्थोंके समान न होकर उनसे सर्वथा विलक्षण है फिर विचारी इन्द्रियां इसे जान ही कैसे सकती हैं?

भावार्थ—स्पर्शको स्पर्शन इन्द्रिय, रसको रसना इन्द्रिय, गंधको घ्राण इन्द्रिय, रूपको चक्षु और शब्दको श्रोत्र इंद्रिय विषय करती हैं। परन्तु इनमें

ऐसी एक भी इंद्रिय नहीं जो दूसरी इंद्रियके विषयको ग्रहण कर सके इसलिये जब इनमें यह भी सामर्थ्य नहीं कि एक इंद्रिय दूसरी इंद्रियके रूपी विषयको भी ग्रहण करले तब ये आत्माके स्वरूपको तो विषय कर ही नहीं सकतीं क्योंकि वह स्पर्श आदि पदार्थोंसे सर्वथा रहित अरूपी है। यहाँ तक कि स्पर्श आदि पदार्थोंके समान भी नहीं। उनसे सर्वथा विलक्षण है इसलिये इन्द्रियोंसे आत्माके स्वरूपका कदापि ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

सर्वज्ञ ही अमूर्त आत्माका प्रत्यक्ष करते हैं—

यत्केवलं विमलमस्खलितप्रकाशं
प्रत्यक्षमक्षणिकमक्षगणानपेक्षं ।
आनंदकंदलितमुक्तिलतैकमूलं
तेनात्मतत्त्वमिह सर्वविदो विदंति ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—**विमलं अस्खलित प्रकाशं**—जो निर्मल है, जिसका प्रकाश कभी अस्त नहीं होता ऐसा, **यत्केवल**—जो केवलज्ञान है वह, **प्रत्यक्षं**—पूर्ण प्रत्यक्ष है। **अक्षणिकं**—अविनाशी है, **अक्षगणानपेक्षं**—अपने कार्यमें इन्द्रिय, मनकी सहायता कभी नहीं लेता वह, **आनंदकन्दलितमुक्ति लतैक मूलं**—आनन्दको कन्दला सहित मुक्ति रूपी लताको जड़ है, **तेन**—उस केवलज्ञान द्वारा ही, **सर्वविदः**—सर्वज्ञ देव, **इह आत्मतत्त्वम्**—इस आत्म-तत्वको, **विदन्ति**—जानते हैं ॥ १५ ॥

अर्थ—जो समस्त पदार्थोंके जानकार-सर्वज्ञ हैं वे अतिशय निर्मल, जिसका प्रतिरोध हो नहीं हो सकता ऐसे अनुपम प्रकाशके धारक, प्रत्यक्ष-एकमात्र आत्माकी सहायतासे विकसित, अविनाशी, पदार्थोंके जाननेमें इन्द्रियोंकी सहायता न चाहनेवाले, आनन्ददायक मुक्तिरूपी लताके मूल कारण अपने केवलज्ञानसे इस आत्माके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे जानते हैं।

भावार्थ—पहिले कह आये हैं कि आत्माके स्वरूपका ज्ञान प्रत्यक्ष आगम और अनुमान प्रमाणसे होता है। सो वह सकलप्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञान ही है। क्योंकि वह अतिशय निर्मल है, अनुपम प्रकाशका धारक, अविनाशी, पदार्थोंके ज्ञान करनेमें इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न करनेवाला और आनन्दमय सुखका परम कारण है, अन्य कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है। इसलिए जो मनुष्य केवलज्ञानी हैं वे आत्माके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जानते हैं उनको ही इसका पूर्णरूपसे साक्षात्कार होता है ॥ १५ ॥

आगम प्रमाण से भी आत्मा सुप्रसिद्ध है—

आत्मा जिनैरनुभवप्रतिपन्नपूर्वो
भव्येषु दिव्यवचसा प्रतिपादितश्च ।
तत्त्वोपलंभनविधावकृतप्रलंभं
तथ्यं सुपथ्यमिति जैनवचः प्रमाणं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—**जिनैः**—जिनेन्द्र देवने, **अनुभव प्रतिपन्न पूर्वः**—अपने केवल-ज्ञान द्वारा अनुभव करनेके बाद ही, **आत्मा**—आत्माका स्वरूप, **भव्येषु**—भव्य जीवों को, **दिव्यवचसा**—अपने दिव्य उपदेश द्वारा, **प्रतिपादितश्च**—प्रतिपादित भी किया है। इस सम्बन्धमें, **जैनवचः प्रमाणम्**—जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन ही पूर्ण प्रमाण हैं। क्योंकि वे वचन, **तत्त्वोपलंभन विधौ**—तत्त्वकी प्ररूपणा करनेमें, **अकृत प्रलंभ**—किसी प्रकारका छल करने वाले नहीं हैं अतएव वे, **तथ्यं सुपथ्यं इति**—पूर्ण सत्य है और सब जीवोंके लिए हितकारक हैं ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रने प्रथम तो अपने अनुभवसे—केवलज्ञानसे आत्मा-को जाना, पश्चात् अपनी दिव्यध्वनिसे—दिव्यवचनोंसे कल्याणके इच्छुक उत्तम जीवोंके सामने उसका वास्तविक स्वरूप बतलाया। यहाँपर यह शंका न करनी चाहिये कि भगवान जिनेन्द्रके वचनोंपर ऐसा गाढ श्रद्धान क्यों ? क्योंकि, उनके वचन वस्तुके स्वरूप वर्णन करनेमें वंचना करनेवाले नहीं होते—वस्तुका जैसा स्वरूप होता है उसको वे उसी रीतिसे वर्णन करते हैं और तथ्य—पूर्वापर विरोधरहित सुपथ्य हितकारी होते हैं, इसलिये वे प्रमाण हैं।

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्र वीतराग थे और वीतरागी पदार्थका जैसा स्वरूप होता है वैसा ही प्रतिपादन करता है। दूसरे जीवोंको वह मिथ्या जालमें वह फँसाना नहीं चाहता और उसके वचन पूर्वापर विरोधरहित और निश्चित रहते हैं। वीतराग भगवान् जिनेन्द्रने अपने अखंड ज्ञानसे आत्माके हितकर स्वरूपको भले प्रकार जानकर अपने दिव्यवचनोंसे मनुष्योंके समक्ष उसका प्रतिपादन किया है इसलिये उनके वचन सर्वथा प्रामाणिक हैं। इस श्लोकमें वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगम प्रमाण है और उससे जो आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है वह बिलकुल सत्य होता है यह बात बतलाई है ॥१६॥

आप्त-अनाप्तका लक्षण—

यो द्वेष्टि रज्यति विमुह्यति स ह्यनाप्तो
दूरांतरे व्यभिचरंति वचांसि तस्य ।
न द्वेष्टि रज्यति विमुह्यति यः स आप्तो
नैवायतौ व्यभिचरंति वचांसि तस्य ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—**यः**—जो व्यक्ति, **द्वेष्टि**—द्वेषभाव रखता है, **रज्यति**—राग भाव रखता है, **विमुह्यति**—मोह भाव रखता है, **स हि अनाप्तः**—वह सच्चा देव नहीं है—सर्वज्ञ नहीं है, **तस्य वचांसि**—उसके द्वारा कथित वचन, **दूरांतरे व्यभिचरंति**—दूरवर्ती कालान्तरवर्ती पदार्थोंके निर्णयमें असत्य हो जाते हैं।

यः—जो व्यक्ति, **न द्वेष्टि**— किसीके प्रति द्वेष नहीं रखता, **न रज्यति**—किसीके प्रति राग नहीं रखता, **न विमुह्यति**—मोहभाव नहीं रखता, **सः आप्तः**—वही सच्चा देव वीतराग सर्वज्ञ है, **तस्य वचांसि**—उसके वचन, **आयतौ**—भविष्यकालमें भी, **नैव व्यभिचरन्ति**—कभी असत्य सिद्ध नहीं होते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो रागी, द्वेषी और मोही है वह अनाप्त है और उसके वचन दूरवर्ती एवं व्यवहित पदार्थोंमें बाधित हो जाते हैं। वह दूरके पदार्थको वा पहाड़ आदि से ढके हुये पदार्थको ठीक-ठीक नहीं बता सकता। परन्तु जो न द्वेषी, न रागी और न मोही है वह आप्त है और उत्तर कालमें उसके वचनोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता।

भावार्थ—मेरुपर्वत, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, परमाणु आदि वा जमीनके अन्दर रक्खे हुये पदार्थोंके वर्णन करनेवाले जिसके वचनमें किसी प्रकारका विरोध न आता हो, वे जैसे थे, वा हैं, उनको उसीरूपसे जो वर्णन करनेवाला हो एवं राग-द्वेष-मोहसे सर्वथा रहित हो वह तो आप्त है और जो रागी-द्वेषी मोही हो एवं दूर, अंतरित पदार्थोंके वर्णन करनेमें जिसके वचनोंमें विरोध आता हो वह अनाप्त है।

अनुमान प्रमाण से आत्मसिद्धि—

क्षेत्रज्ञमाप्तवचनादधिगम्य सम्यक्
तस्मिन्नृणामविदुषां च विवादिनां च ।
सत्यानुमानगमकः कृतिनामभीष्टो
यो हेतुरप्रतिहतस्तमुदाहरामि ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—**क्षेत्रज्ञम्**—आत्म तत्व को, **आप्तवचनात्**— वीतरागी सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश से, **सम्यक् अधिगम्य**—भले प्रकार जानकर, **तस्मिन्**—उस आत्म तत्त्वके विषयमें, **अविदुषाम् च विवादिनाम् य नृणाम्**—अज्ञानी तथा विवाद करनेवाले मनुष्योंके लिए, **सत्यानुमानगमकः**—सत्य अनुमानके द्वारा ज्ञान कराने वाला, **कृतिनाम् अभीष्टः**—विद्वानोंको इष्ट ऐसा, **या हेतुः अप्रतिहतः**—जो अबाधित हेतु है, **तम् उदाहरामि**—उसे उद्धृत करता हूँ ॥ १८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य मूढ हैं वा आत्माके विषयमें विवादग्रस्त हैं उनके लिये मैं भगवान् जिनेन्द्रके वचनसे भले प्रकार आत्माके स्वरूपको जानकर उसीकी सिद्धिमें सत्य, अनुमानको जाननेवाले, विद्वानोंको अभीष्ट और दूसरे हेतुओंसे सर्वथा अकाट्य, निर्दोष हेतुका प्रयोग करता हूँ अर्थात् उनके सामने मैं आत्माका स्वरूप सच्चे हेतुओंसे मण्डित अनुमानसे सिद्ध करता हूँ ॥ १८ ॥

● लक्षण द्वारा आत्मसिद्धि—

आदानदानगमनागमनानुवाद-
वादश्रुतिस्मृतिसुखानुभवादिचेष्टा ।
यस्मिन् सति स्फुरति येन विना न देहे
चिद्वस्तु तद्विशदलक्षणवेद्यमस्ति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—**यस्मिन् सति**—जिसकी उपस्थितिमें, **देहे**—शरीरमें, **आदान-दान-गमन-आगमन-अनुवाद-वाद-श्रुति-स्मृति-सुखानुभव-आदि चेष्टा**—किसी वस्तुका लेना-देना-जाना-आना-अनुकरण करना-स्मरण करना-सुखादिका अनुभव करना आदि विविध चेष्टाएँ, **स्फुरति**—प्रकट होती हैं । तथा **येन विना न स्फुरति**—जिसके न रहनेपर चेष्टाएँ प्रकट नहीं होती, **तत्**—वह, **विशद लक्षण वेद्यम्**—उन स्पष्ट लक्षणोंसे जानी गई, **चिद्वस्तु अस्ति**—चैतन्यस्वरूप जीव वस्तु (द्रव्य) है ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसकी मौजूदगीमें शरीरसे पदार्थोंका ग्रहण करना, दान देना, जाना, आना, अनुवाद करना, वाद करना, सुनना, स्मरण करना, और सुख-दुःख आदि का अनुभव करना हो और जिसके बिना वे न हों वही आत्मा है—ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—शरीरके भीतर एक ऐसा पदार्थ है जो कि शरीरसे पदार्थोंका ग्रहण करता है, दान देता है, गमन करता है, ठहर जाता है, दूसरेके वचनोंका

अनुवाद करता है, स्वयं बोलता है, शब्दोंको सुनता है, पहलेकी बातोंका स्मरण करता है और सुख-दुःख आदिका भी अनुभव करता है। परन्तु जिस समय वह शरीरको छोड़ देता है अर्थात् मरणावस्था हो जाती है उस समय यह शरीर ज्योंका त्यों पड़ा रह जाता है—इससे एक भी चेष्टा नहीं होती इसलिये इस अविनाभाव सम्बन्धसे अर्थात् शरीरके भीतर विद्यमान उस पदार्थके सम्बन्धसे शरीरसे चेष्टाओंका होना और उस पदार्थके अभावमें बुद्धिपूर्वक किसी चेष्टाका न होना इत्यादि व्याप्तिसे जान पड़ता है। वह पदार्थ आत्मा ही है और उसीका आदान कारण आदि निर्दोष लक्षण है अन्यका नहीं ॥ १९ ॥

युक्ति, आगम और अनुभवसे भी आत्मसिद्धि—

देही हृषीकगणनिर्विषयोऽपि विज्ञै-
र्ज्ञेयो जिनप्रवचनानुमितिप्रमाभ्यां ।
तस्यैव वा व्यवहितप्रतिपत्तिकारि
प्रत्यक्षमानुभविकं क्रमशः प्रयोज्यं ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—**विज्ञैः**—ज्ञानियोंके द्वारा, **देही**—यह देहस्थित आत्मा, **हृषीक गण निर्विषयः अपि**—इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत न होनेपर भी, **जिनवचन अनुमिति-प्रमाभ्यां ज्ञेयः**—जिनेन्द्रके वचन, (आगम) तथा अनुमान प्रमाणसे जानी जाती है। पश्चात् **तस्यैव वा**—उसीका, **व्यवहित प्रतिपत्तिकारि**—उस अप्रत्यक्ष आत्माके भी ज्ञान करानेवाले, **आनुभविकम्-प्रत्यक्षम्**—स्वसंवेदन प्रत्यक्षानुभवको, **क्रमशः प्रयोज्यम्**—बार-बार प्रयोग करना चाहिए, तभी वह स्वानुभव प्रत्यक्ष होती है ॥ २० ॥

अर्थ—यह आत्मा स्पर्शन, रसना आदि इंद्रियोंके अगोचर हैं—उनसे कभी नहीं जाना जा सकता परन्तु जो पुरुष विद्वान हैं वे पहले आगम और अनुमान प्रमाणसे इसे जान लेते हैं पश्चात् व्यवहित पदार्थोंको भी जाननेवाले 'अहं-अहं' इस अनुभव प्रत्यक्षसे उसका निश्चय कर लेते हैं।

भावार्थ—यदि आत्मामें स्पर्श, रस आदि पदार्थ होते तब तो इसका ज्ञान स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियोंके हो जाता है। परन्तु वैसा तो है नहीं इसलिये इन्द्रियोंके तो यह सर्वथा अगोचर है। किन्तु जो पुरुष विद्वान् हैं—आत्माके स्वरूपके जानने के लिये लालायित हैं, वे पहिले तो वीतराग द्वारा प्रतिपादित आगमप्रमाणसे उसको जानते हैं पश्चात् अनुमान प्रमाणसे उसका निश्चय

करते हैं। जब आगम और अनुमानसे पूर्ण निश्चय हो जाता है तब 'अहं-अहं' (मैं-मैं) इस स्वानुभव प्रत्यक्षसे उसका पूर्णतया साक्षात्कार भी कर लेते हैं ॥ २० ॥

आत्मज्ञानी ही मोक्ष लाभ करते हैं—

आत्मानं प्रतिपद्य चेतसि जिनोपज्ञागमज्ञापितं ।
विज्ञायाप्यनुमानमानकलनैस्तन्निर्णयं कुर्वतः ।
साक्षाद्वीक्षितुमेनमानुभविकं प्रत्यक्षमभ्यस्यतः
प्रत्यक्षा यमिनो भवत्यनुपमा लक्ष्मीर्विलंबं विना ॥२१॥

अन्वयार्थ—जिनोपज्ञ-आगम ज्ञापितं आत्मानम्—जिनेन्द्र कथित आगम द्वारा आत्मा को, **चेतसि प्रतिपद्य**—अपने चित्त से जानकर पश्चात्, **अनुमान-मान कलनैः**—अनुमान ज्ञान के द्वारा, **विज्ञाय**—उसे जानकर, **तत् निर्णयं-कुर्वतः**—इसका निर्णय करने वाले तथा, **एनम्**—इस आत्मा को, **साक्षात् वीक्षितुम्**—प्रत्यक्ष देखने के लिए, **आनुभविकम् प्रत्यक्षम् अभ्यस्यतः**—अपने अपने स्वानुभव प्रत्यक्ष का अभ्यास करने वाले, **यमिनः**—ये सर्वमो मुनियों को, **विलम्बम् विना**—शीघ्र ही, **अनुपमा लक्ष्मी**—अनुपम मोक्षलक्ष्मी, **प्रत्यक्षा भवति**—प्रत्यक्ष ही प्राप्त होती है ॥२१॥

अर्थ—जो मुनिगण, भगवान जिनेन्द्रद्वारा प्रतिपादित आगमसे भले प्रकार ज्ञापित आत्माको अपने मनमें निश्चलरूपसे धारण कर और अनुमान प्रमाणसे भी उसका ज्ञानकर निर्णय करते हैं पश्चात् उसे साक्षात् देखनेकेलिये अनुभव प्रत्यक्षका अभ्यास करते हैं वे थोड़े ही कालमें अनुपमलक्ष्मी-मोक्षलक्ष्मीको प्रत्यक्ष कर लेते हैं अर्थात् बहुत जल्दी उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥२१॥

वह आत्मज्ञान युक्त करनेवाला प्राणी विरल है—

विद्यंते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः
प्राप्यंते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः क्वचित् ।
आत्मज्ञाः परमप्रमोदसुखिनः प्रोन्मीलदंतर्दृशो
द्वित्रा स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचधा दुर्लभाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—आत्मबोध विमुखाः—आत्मज्ञान से शून्य, **संदेहिनो देहिनः**—उसके अस्तित्व में भी संदेह करने वाले प्राणी, **कति न विद्यंते**—कितने नहीं हैं अर्थात् बहुत हैं, **जिज्ञासमानाः पुनः**—उसे जानने की इच्छा रखने वाले

भो, क्वचित् कदाचन कतिचित् प्राप्यंते—कहीं-कहीं, कभी-कभी, कोई-कोई होते हैं पर, **प्रोन्मीलत्-अंतर्दृशः**—अंतरंग में प्रकट हुई है अन्तर्दृष्टि जिनको, **परमप्रमोद सुखिनः**—परम आनन्द से सुखी ऐसे, **आत्मज्ञाः**—आत्मज्ञानी, **द्वित्रा स्युः**—दो या तीन हैं, **बहवः यदि**—इससे अधिक यदि हों तो, **ते त्रिचतुराः**—तीन या चार होंगे, **षड्चषाः दुर्लभाः**—पाँच-छह का होना दुर्लभ है ॥२२॥

अर्थ—इस संसारमें प्रायः सब जीव आत्मबोधसे विमुख हैं यदि कोई कदाचित् आत्माको जानते भी हैं तो वे आत्मा क्या है ? किसे आत्मा कहते हैं ? इसी संदेहमें उलझ रहे हैं इसलिये उनको भी यह स्पष्ट ज्ञान नहीं कि वास्तविक आत्मा क्या पदार्थ है। कई एक उसके स्वरूप जाननेके अभिलाषी कहीं किसी कालमें उसे जान भी लेते हैं परन्तु जो वास्तविक आत्माके स्वरूपके जानकार हैं—आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुये प्रमोदसे हर्षायमान हैं और जिनकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे सर्वथा हटकर निज आत्माकी ओर झुक गई है ऐसे महानुभाव दो या तीन अथवा तीन-चार हो हैं और पांच या छह मिलने तो अत्यन्त दुर्लभ हैं।

भावार्थ—संसारमें आत्माके स्वरूपका जानना अति कठिन है क्योंकि एक तो जीव, रात दिन अपनी इन्द्रियोंके विषय पोषणमें लगे रहते हैं इसलिये वे इन्द्रियोंके विषयके सिवाय अन्य किसी पदार्थको जानते ही नहीं। दूसरे कदाचित् इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होकर पदार्थोंकी खोज भी करे तो इसी संदेहमें उलझ जाते हैं कि आत्मा किस पदार्थको ठहरावें और उसका स्वरूप क्या निश्चित करे ? खैर ! संदेहको दूरकर देश-कालके योग्य मिल जानेपर उसका स्वरूप जान जाय तो उसके स्वरूपके ज्ञानसे उत्पन्न हुये आनन्दसे आनन्दित और उसकी ओर सर्वथा उन्मुख दो-तीन वा बहुतसे बहुत तीन-चार होंगे पांच वा छै मिलने तो नितरां दुर्लभ हैं ॥ २२ ॥

आत्मज्ञानी को कपटी साधुओं की संगति नहीं करना चाहिए—

ये धर्मध्वजिनोऽत्र तीर्थपुलिनध्वांक्षा जडा वांभिकाः
मज्जंतो बकवद्भयार्तकपिवद्दृग्मीलकोन्मीलकाः ।
आत्मन् ! दुर्जय जंजपूकवदनाः कुर्वंत्यनात्मस्पृशो
मिथ्येवांगुलिपर्वखर्वगणनां तैः संगतिं मा कृथाः ॥२३॥

अन्वयार्थ—**अत्र**—इस संसार में, **ये**—जो, **धर्मध्वजिनः**—धर्म की ध्वजा हाथ में लेने वाले हैं तथा जो, **तीर्थ पुलिनध्वांक्षा**—तीर्थों के किनारे काक-दृष्टि से लोगों को धर्म के नाम ठगने वाले, **जड़ा दांभिकाः**—अज्ञानी होकर भी अहंकारी, **वकवत् मज्जंतः**—बगुले की तरह नदी में डुबकी लगाने वाले हैं, **भयार्त कपिवत्**—भयभीत बंदर की तरह, **दृग्मीलनोन्मलिकाः**—आखें खोलने व मींचने वाले हैं, **अनात्म स्पृशः**—आत्मस्वरूप के अजानकर हैं। तथापि, **दुर्जय जंजपूकवदनाः**—जिनका भेद पाना कठिन है ऐसे जप के लिए व्यर्थ उसका नाटक करने को मुख चलाने वाले, **मिथ्यैव अंगुलि पर्व खर्वगणनाम्**—वृथा ही अंगुलियों के पोरों को जपने के छल से अभिमान पूर्वक चलाने की क्रिया, **कुर्वन्ति**—करते हैं, हे **आत्मन्**—अरे आत्मा, **तैः संगति मा कृथाः**—ऐसे ठग, मायाचारी, झूठे धर्मात्मापने का ढोंग रचनेवाले लोगों की संगति मत करो ॥२३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें धर्मकी ध्वजा धारण किये हुये—अपने-को साक्षात् धर्मका स्वरूप माननेवाले जो तीर्थोंके काक पण्डे दृष्टिगोचर होते हैं वे महा जड़ हैं अत्यन्त मायाचारी बकके समान गंगा आदि नदियोंमें डुबकी लगानेवाले, भयभीत बन्दरके समान आँखोंके खोलने-बन्द करनेवाले, मिथ्या जप जपनेवाले और आत्माकी ओर जरा भी न निहारनेवाले हैं। तथा पर-मात्माके नामके बहानेसे व्यर्थ ही वे अपनी अंगुलियोंके घटने (पर्व) गिनते हैं, इसलिये तू उनके साथ जरा भी सहवास न कर।

भावार्थ—बहुतसे मूढ़ पुरुष तीर्थोंके पंडोंको धर्मका स्वरूप मानकर पूजते हैं, उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करनेपर भी बड़े प्रसन्न होते हैं। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे लोग अपनेको देवका पुजारी वा धर्मका भक्त बताकर भोले लोगोंको फुसलाकर शिकार करनेवाले हैं। महामूर्ख, महा-मायाचारी, स्वार्थके लिये नदीमें गोता मारनेवाले, व्यर्थ जप जपनेवाले, दिखानेकेलिये अंगुलियोंके घटना गिननेवाले और आत्मज्ञानसे सर्वथा पराङ्मुख हैं। इसलिये वे जरा भी सहवासके योग्य नहीं। आत्मन् ! यदि तू इनके साथ सहवास करेगा तो संसाररूपी अगाध समुद्रमें सदा गोता खाता रहेगा ॥२३॥

पुनः वही कहते हैं—

मुंडैर्दंडधरैः शिखंडिभिरभिस्फूर्जज्जटामंडलैः
काषायांबरचर्मकंबलधरैर्नग्न्यादिभिर्मुद्रितः ।

आ पाखंडिपरंपरासु भवता शैलूषनाट्योपमै-
र्वेषैरात्मविडंबनं कृतमहो नात्मप्रबोधः कृतः ॥२४॥

अन्वयार्थ—**अहो**—हे आत्मन्, **मुंडैः दण्डधरैः शिखंडिभि**—सिर मुड़ाकर हाथ में दण्ड लेने वाले, बड़ी-बड़ी चोटी रखने वाले, **स्फूर्जज्जटामंडलैः**—बड़ी-बड़ी जटा रखाकर उसका मंडल बाँधनेवाले, **काषायांबर चर्मकंबलधरैः**—रक्त वस्त्र, चर्मवस्त्र, कम्बल आदि धारणा करनेवाले, **नाग्न्यादिभिः**—नग्नवेष धारण करनेवाले नाना वेषों से, **मुद्रितः**—मुद्रा बनाकर, **आ पाखंडिपरंपरासु**—समस्त पाखण्डी साधु परम्पराओं में, **भवता**—तुमने, **शैलूषनाट्योपमैः वेषैः**—नाटक के रंगमंच पर विविध भेषधारियों के समान, **आत्मविडंबनं कृतम्**—अपनी विडम्बना ही की, **आत्मप्रबोधः न कृतः**—स्वात्मबोध नहीं किया ॥ २४ ॥

अर्थ—रे आत्मन् ! जिसप्रकार नाटकके अन्दर नट, कभी स्त्रीका वेष धारण करता है तो कभी राजा वा रंकका, उसीप्रकार कई बार तू शिर मुड़ाकर साधु, दंडी और संन्यासी हुआ, बहुत बार तूने शिखा और जटा भी रखाई, अनेक बार कषायवस्त्र और चर्मकम्बल भी धारण किये बहुत बार तू नग्न साधु भी हो चुका । इसप्रकार प्रायः समस्त पाखंडियोंके तूने वेष धारण कर लिये और इन वेषोंको धारणकर अपनी आत्माकी खूब ही विडम्बना की । परन्तु हाय ! बड़े खेद और दुःखकी बात है कि कभी तूने अपने आत्मस्वरूपके जाननेके लिये प्रयत्न न किया ।

भावार्थ—संसारमें जो लोग दंडी, संन्यासी, नग्न आदि मुद्राके धारक होते हैं वे आत्मज्ञान वा आत्मकल्याणके लिये होते हैं परन्तु वास्तविक आत्माका स्वरूप न समझ सकनेके कारणसे उनका वेष ढोंगी वेष समझा जाता है और नट जिसप्रकार वाहवाही लूटनेके लिये और दूसरोंको रिझानेके लिये राजा आदिका वेष धारण करता है उसीप्रकार उनका (साधु आदिका) वह वेष भी समझा जाता है । परिणाम यह निकलता है कि वे आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करते नहीं और व्यर्थके संन्यासी आदिके वेष धारणकर अपनी आत्माको निराकुलतामय सुखसे वंचित रखते हैं । रे आत्मन् ! तूने भी जो कुछ साधु संन्यासी आदिका वेष रक्खा, वह आत्माका भले प्रकार स्वरूप न जानकर वाहवाही चाहने के लिये वा दूसरोंके रिझानेकेलिये ही रक्खा और आत्मज्ञानकी प्राप्तिकेलिये किसीप्रकारका प्रयत्न न कर उसे निराकुलतामय सुखका लाभ न होने दिया ॥ २४ ॥

आत्मलीनता रहित तप आदि भी सिद्धिदायक नहीं—

दीप्तोत्तप्ततपः परीषहजयोद्योगैर्नियोगोद्यमैः
सद्भिक्षुप्रतिमाभिरप्यनशनैर्मासोपवासादिभिः ।
कायक्लेशभरैः प्रयाति कृशतां कायो न कर्मोच्चय-
स्तेकर्मक्षयहेतवस्तव तदा स्वस्थो यदा स्थास्यति ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे आत्मन् ! **दीप्त-उत्तप्त-तपः-परीषह जयोद्योगैः**—तन को संतापित करनेवाले तीव्र तपों को करना तथा अनेक समागत परीषहों को जय करना से तथा, **नियोगोद्यमैः**—अन्य योग्य कार्यों के उद्यम करने से तथा **सद्भिक्षुप्रतिमाभिः अपि**—दिगम्बर मुनि मुद्राधारण करने से भी और, **मासोपवासादिभिः अनशनैः**—महीना-महीना उपवास आदि तप करने से, **कायक्लेश भरैः**—इन समस्त कायक्लेशों के करनेपर भी, **यदा**—जब, **स्वस्थो स्थास्यति**—निज आत्मबोध पूर्वक उसमें स्थिर होओगे, **तदा**—तभी, **तव**—तुम्हारे, **ते**—उक्त सम्पूर्ण तप, **कर्मक्षय हेतवः**—कर्मक्षयके कारण होंगे अन्यथा आत्मबोधके बिना, **कायः कृशतां प्रयाति**—इनसे शरीर हो तो कृशता को प्राप्त होता है, **न कर्मोच्चयः**—कर्मों का क्षय नहीं होता ॥२५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू आत्मस्वरूपमें लीन नहीं होगा तो तू चाहे कैसे भी प्रचण्ड और संताप देनेवाले तप कर, उग्रसे उग्र भी परीषहोंको जीत, भलेप्रकार मनोयोग धारणकर, मुनिमुद्रा उपवास और मासोपवास भी कर परन्तु इन कायक्लेशोंसे तेरा शरीर ही कृश होगा; कर्मोंका ढेर जरा भी न घटेगा। हां यदि तू तप आदि आचरण करता हुआ अपना आत्मामें लीन रहेगा तो तेरे ये किये हुये तप आदि कार्य कर्मोंके नाशक हो जायंगे अर्थात् आत्मा में लीनताके साथ किये हुये तप आदिसे तेरे समस्त कर्म नष्ट हो जायंगे।

भावार्थ—कर्मोंके नाश करनेमें सबसे मुख्य कारण तो आत्मस्वरूपमें लीनता है, तप आदि तो बाह्य वा गौण कारण हैं क्योंकि, यदि आत्मस्वरूपमें लीनता न हो और तप आदि आचरण किये जांय तो उनसे कर्म एक रत्तीभर भी कम नहीं होते, उल्टा शरीर ही कृश होता चला जाता है। इसलिये रे आत्मन् ! तुझे चाहिये कि तू आत्मस्वरूपमें लीनताके साथ तप आदिका आचरण करे ॥ २५ ॥

पुनः यही कहते हैं—

ग्रीष्मे शैलशिलासु तीव्रतपनोत्तप्तासु तप्तं त्वया
प्रावृट्-कालकरालमेघपटलादंगीकृता वृष्टयः ।
सोढाः प्रौढतुषारपातपरुषाः शीतर्तुवातोर्मयो
नांतर्बोधकृतश्रमो यदि भवनेष श्रमो निष्फलः ॥२६॥

अन्वयार्थ—हे आत्मन् ! **ग्रीष्मे**—गर्मी के दिनों में, **तीव्र तपनोत्तप्तासु**—प्रचण्ड सूर्य के ताप से तपी हुई, **शैलशिलासु**—पर्वत की शिलाओं में, **त्वया-तप्तम्**—तुमने तप किया, **प्रावृट्-काल-कराल-मेघपटलात्**—वर्षा ऋतु में भयंकर मेघों द्वारा होनेवाली, **वृष्टयः**—वर्षा के कष्ट भी, **सोढाः**—सहन किये। **शीतर्तुवातोर्मयो**—शीत ऋतु की ठण्डी वायुके झौंके जो, **प्रौढ़ तुषारपात-परुषाः**—तीव्र तुषारके गिरनेसे कठोर थे उनको भी सहा तथापि—**यदि अन्तर्बोध कृतश्रमः न**—यदि अन्तरंग में आत्मज्ञान का उद्योग नहीं किया तो, **भवान् एष श्रमः निष्फलः**—ये सारे परिश्रम पूर्वक किये गए तप निष्फल ही गए ॥२६॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूने ग्रीष्मकालमें धूपसे अतिशय तप्तायमान पर्वतोंकी शिलाओंपर बैठकर उग्रतप भी तपा, वर्षाकालमें विकराल मेघोंसे उत्पन्न हुई वर्षाके जलका भी दुःख भोगा, शीतकालमें तुषारके सम्बन्धसे तीक्ष्ण ठंडे प्रचंड पवनके झकोरे भी सहे, परन्तु यदि तूने अन्तर्बोध आत्मज्ञानकेलिये कभी प्रयत्न न किया तो वे सब तेरे निष्फल—निष्प्रयोजन हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य मुमुक्षु हैं—मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, वे बिना आत्मस्वरूपके ज्ञानके लिये प्रयत्न किये चाहें कैसे भी पर्वतकी शिलापर बैठकर उग्रतप क्यों न करें ? वर्षाकालमें विकराल मेघकी धाराओंसे भी क्यों न अपने शरीरको कष्ट दें वा तीक्ष्ण झकोरोंसे अपने शरीरको चीरनेवाले शीतकालके पवनका भी दुःख क्यों न भोगे ? कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये बिना प्रयत्न किये घोर तप आदिका तपना व्यर्थ है ॥ २६ ॥

मिथ्या अभिमानसे कोई सिद्धि नहीं होती—

गर्वोग्रग्रहलंघितोऽस्यसि महाहंकारवातादितो-
मोहोन्मादहतोऽसि हंत ममतामैरेयमत्तोऽसि च ।
तेनात्मन् प्रतिबोधशून्यविबुधंमन्य ! त्वमन्यैः समा
मूढ़ैःपंडितमानिभिः कलकलोत्तालाकुलं युध्यसे ॥२७॥

अन्वयार्थ—आत्मन् !—हे आत्मा ! **प्रतिबोध शून्य विबुधंमन्य** !—आत्मज्ञान रहित होकर भी अपनेको विद्वान् मानने वाले, **त्वम्**—तुम यदि, **अन्यैः पंडितमानिभिः मूढैः**—अपने को पंडित मानने वाले आत्मज्ञान रहित मोहीजनों के, **समा**—साथ, **कलकलोत्ताल-आकुलम्**—कल-कल शब्दों से शब्दायमान, **युध्यसे**—वाद-विवाद करते हो तो, **तेन**—इस व्यर्थ के वितण्डावाद से सिद्ध होता है कि तुम भी, **गर्व-उग्र-ग्रह लंघितोऽसि**—घमंड रूपी मगर से ग्रसित हो, **महा-अहंकार-वात-अर्दितः असि**—घोर अहंकार रूपी वातरोग से पीड़ित हो, **मोहोन्मादः-हृतः असि**—मिथ्यात्व की तीव्रता से तुम्हारी बुद्धि मारी गई है, **ममता मैरेय-मत्तः असिः**—ममत्व रूपी मद्य के द्वारा उन्मत्त हो, **इति हंत**—यह बड़े खेद की बात है ॥ २७ ॥

अर्थ—रे ! आत्मज्ञानसे रहित भी अपनेको प्रबल पंडित माननेवाले आत्मन् ! महामूढ़ और अपनेको भी प्रवर पंडित समझनेवाले मनुष्योंके साथ जो तू उत्ताल शब्दोंसे युद्ध करता है—वाद-विवाद करता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि तू महाभयंकर गर्वरूपी ग्रहसे दबा हुआ है। अहंकाररूपी महाप्रबल वातसे पीड़ित है। मोहरूपी उन्मादसे उन्मत्त और ममतारूपी मदिरासे विवेकशून्य हो रहा है।

भावार्थ—हे आत्मन् ! यदि तुझे सच्चा आत्माका ज्ञान है तो तू सरल परिणामी, धर्मसे प्रेम रखनेवाले मनुष्योंको उपदेश दे उन्हें ही आत्माके स्वरूपका ज्ञान करा परन्तु प्रचंड परिणामी विवादियोंके साथ विवाद मत कर। क्योंकि, वे महाजड़ और अपनेको पंडित माननेवाले हैं इसलिये तेरे सत्य उपदेशका भी उनपर असर नहीं पड़ सकेगा। यदि ऐसा जानकर भी तू उनके साथ विवाद करे तो इसमें कोई संदेह नहीं कि तू महागरिष्ठ महा-अहंकारी, महामोही और अपनेको अद्वितीय पंडित मानने वाला है ॥ २७ ॥

तर्क, वाद-विवाद, जल्प, वितण्डासे आत्मसिद्धि नहीं होती—

किं वादेन वितंडया किमनया जल्पैरनल्पैश्च किं
भ्रूभंगांगुलिभंगभंगिचपलैश्चर्चाविचारैश्च किं ।
संजातः पशुरेव कर्कशवहिस्तर्केण वाह्यो भवान्-
तस्तर्कमधीष्व किंचिदुदयत्यात्मप्रबोधो यतः ॥२८॥

अन्वयार्थ—**किं वादेन**—इस विवाद से क्या लाभ, **अनया वितंडया किम्**—इस वितण्डा रूप तीव्र कुतर्कों को उपस्थित करने से क्या लाभ, **अनल्पैः**

जल्पैश्च किं—बहुत बढ़-चढ़कर बात करने से भी क्या लाभ है ? तथा, **भ्रूभंग-अंगुलि-भंग भंगि चपलैः**—भौंहें चलाना, अंगुलियां घुमाना आदि चपलता की क्रियाओं के साथ, **चर्चा विचारैश्च**—चर्चा-परामर्श करने से भी क्या लाभ है ? इन सब **कर्कश-बहिः तर्कैः**—कठोर दिखाऊ तर्कणाओं से, **भवान्**—तुम, **बाह्यः**—आत्मज्ञान से रहित, **पशुरेव संजातः**—अज्ञानी ही रहोगे इसलिए, **अन्तः तर्कम् अधीष्व**—अन्तरङ्ग को बताने वाले तर्कों का आश्रयकर, **यतः**—जिनसे, **किंचित् आत्मप्रबोधः उदयति**—कुछ आत्मज्ञान का उदय हो ॥ २८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू आत्मप्रबोध प्राप्त करना चाहता है—अपनी आत्माके स्वरूपका भले प्रकार ज्ञाता बनना चाहता है तब न तो तुझे वाद करनेकी आवश्यकता है। न वितंडा और जल्प कथासे ही कोई प्रयोजन है, भौंहें चलाकर और अंगुली घुमाकर चर्चा और विचार करनेसे भी कुछ लाभ नहीं क्योंकि ये सब बाह्य तर्क हैं और इनके करनेसे तू पशु-अज्ञानी और आत्मज्ञानसे शून्य समझा जायगा। तू तो अंतरंग तर्कका आश्रयकर-अपनी दृष्टिको अंतरंगकी ओर लगा, जिससे तुझे आत्माका ज्ञान हो और उसके स्वरूपको समझ सके।

भावार्थ—जिसमें प्रमाणके द्वारा साधन वा दूषण बताये जांय, जो सिद्धांतके विरुद्ध न हो, व जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु आदिका अवलंबन और पक्ष प्रतिपक्षका ग्रहण हो, वह वाद है। जिसमें वादकी सब सामग्री रहे और किसी एक प्रयोजनीय अर्थके लिये शब्दका प्रयोग होनेपर उसका छलसे दूसरा अर्थ कर दिया जाय (अर्थात् किसीने किसीको नवकंबलवाला कहा, वहां वक्ताका तात्पर्य तो यह था कि इसके पास नवीन कंबल है क्योंकि नव शब्दका अर्थ नया और नौ दोनों होता है परन्तु प्रतिवादी द्वारा-नवका नौ अर्थकर यह विचारा महादरिद्र है इसके एक भी कंबल नहीं तो नौ कहांसे आये ! ऐसा प्रकट कर देना आदिका प्रयोग किया जाय) उसका नाम जल्प है और जहांपर द्वितीय पक्ष वादी वैतंडिकका कोई पक्ष न हो वह सत्-असत् सब सिद्धांतोंमें दूषण लगाने वाला हो उसका नाम वितंडा है। इसप्रकार बहुतसे लोग वाद, जल्प, वितंडासे, भौंहें चलाने और अंगुली घुमानेसे चर्चा विचार करते हैं। परन्तु ये सब तर्क बाह्य तर्क है इनसे आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता। आत्माका ज्ञान आत्माकी ओर दृष्टि लगानेसे ही होता है। इसलिये हे आत्मन्। तुझे उसीकी ओर दृष्टि लगाना चाहिये ॥ २८ ॥

पञ्चनमस्कार मंत्र में मोहपिशाच को शान्त करने की सिद्धि है—

हुंफट्कारवषट्पुरःसरमहामंत्रैः परानद्भुतै-
र्भूतोत्थज्वरशाकिनीग्रहहतानुन्मोदयन् तृप्यसि ।
आत्मानं पुनरुद्धतस्फुरदहंकारग्रहोल्लंघितं
नैवोल्लंघयितुं दधासि हृदये सन्मंत्रबीजाक्षरं ॥२९॥

अन्वयार्थ—हे आत्मन् ! तुम, **अद्भुतैः**—दूसरों को आश्चर्य उत्पन्न करानेवाले, **हुंफट्कारवषट्पुरःसर महामंत्रैः**—हुंकार-फटकार-वषट् आदि पल्लव जिनके पाए जाते है ऐसे महामंत्रों से, **भूतोत्थ ज्वर-शाकिनी-ग्रह हतान् परान्-उन्मोदयन्**—भूतादि से ग्रस्तके ज्वर तथा शाकिनी आदि ग्रहों द्वारा ग्रसित लोगों को प्रसन्न करते हुये, **तृप्यसि**—संतोषित होते हो । परन्तु, **उद्धत-स्फुरत-अहंकार-ग्रह-उल्लंघितं**—तीव्र प्रकट अपने अहंकाररूपी ग्रहके द्वारा ग्रसित अपने को, **उल्लंघयितुम्**—छुड़ानेके लिए, **हृदये**—अपने हृदयमें, **सन्मंत्र बीजाक्षरं न एव दधासि**—महामंत्र बीजाक्षरों को धारण नहीं करते हो ? ॥२९॥

अर्थ—आत्मन् ! जो जीव भूत पिशाच आदिसे उत्पन्न हुये ज्वरसे ग्रस्त हैं जिनके ऊपर शाकिनी डाकिनी आदि ग्रहका पूरा पूरा प्रकोप है उन्हें तू हुँ फट्कार और वषट् आदि महामन्त्रोंसे आनन्दित करता हुआ तृप्त करता है अपने महामन्त्रोंके बलसे उनके भूत आदिसे उत्पन्न विकारोंको सर्वथा दूर कर देता है परन्तु न मालूम उद्धत और प्रचण्ड अहंकार रूपी ग्रहसे ग्रस्त अपने आत्माको वश करनेके लिये तू बीजाक्षर महा पवित्र मन्त्रको हृदयमें क्यों धारण नहीं करता ?

भावार्थ—जब तक इस आत्मा पर अहंकार रूपी ग्रहका प्रकोप रहेगा तब तक यह आत्मा अपने आनन्दमय स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये हे आत्मन् ! तू ऐसे परम पवित्र बीजाक्षर महामन्त्रका आराधन कर, जिससे यह तेरा अहंकार ग्रह नष्ट हो जाय परन्तु अपनी वाहवाहीके लिये वा अन्य पुरुषोंके रंजायमान करनेके लिये तू भूत पिशाच डाकिनी आदिकी बाधाओंको दूर करनेवाले हुँ फट्कार वषट् आदि मन्त्रोंका अभ्यास मत कर। याद रख इनके अभ्याससे तेरी आत्माका कभी कल्याण नहीं हो सकता ॥२९॥

शकुन आदि का ज्ञान भी आत्मसिद्धि साधक नहीं है—

स्तोकेनाविशदेन संशयवता किं पोतकीपिंगला-
काकाद्यव्यभिचारिशाकुनपरिज्ञानेन निश्चीयते ।
स्वस्थं सद्गतिदिव्यनादपरमानंदोदयं बुध्यसे
हंसं चेदिह किं न किं कलयसि स्वाधीनबोधस्तदा ॥३०॥

अन्वयार्थ—**स्तोकेन अविशदेनजो** बहुत थोड़ा है, अस्पष्ट है, **संशयवता**—संशय उत्पन्न करने वाले ऐसे, **पोतकी-पिंगला-काकादि-व्यभिचारि-शाकुन परिज्ञानेन**—कबूतरी, बिल्ली, कौआ आदिको देखकर, शकुन आदि बताने वाले ज्ञान से, **किम्**—क्या निश्चय होता है ?

स्वस्थं—अपनी आत्मा का ज्ञान, **सद्गति दिव्यनाद परमानन्दोदयम्**—सद्गति कारक, दिव्यध्वनि के नाद से उत्पन्न, परम आनन्ददायक है, **हंसम् चेत् इह बुध्यसे**—यदि उस हंस-आत्माका ज्ञान है, **तदा**—तो, **स्वाधीन-बोधः**—वह स्वाधीन ज्ञान, **किं किं न कलयसि**—क्या क्या सिद्धियाँ प्रदान न करेगा ? उसे प्राप्त करो ॥३०॥

अर्थ—आत्मन् ! तू शकुनके ज्ञानको प्रकर्ष ज्ञान मानता है परन्तु वह बिलकुल थोड़ा है। महा मलिन अपवित्र, संशय उत्पन्न करने वाला और कबूतरी, बगलोंकी पंक्ति और काक आदिका व्यभिचारी है—अर्थात् शकुनी मनुष्य कभी कभी यह पूर्ण निश्चय नहीं कर सकता कि कबूतरी बक आदिके सामने पड़ जानेसे क्या फल होगा ? इसलिये तू उस ज्ञानसे कभी भी किसी बातका निश्चय नहीं कर सकता। यदि तुझे अपने स्वरूपमें लीन, उत्तम गति, दिव्यध्वनि और अतिशय आनन्दसे मंडित आत्माका ज्ञान है तो तू उसीसे सब बातोंका निश्चय कर सकता है। क्योंकि उस समय तेरा ज्ञान स्वाधीन-आत्मिक है।

भावार्थ—जब तक आत्माको स्वाधीन बोध प्राप्त नहीं होता तब तक वह निस्सन्देह होकर किसी भी पदार्थका निश्चय नहीं कर सकता तथा इसका लाभ स्वस्थ, उत्तमगति और दिव्यध्वनिके धारक एवं आनन्द स्वरूप आत्माके निश्चयसे होता है। इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू वास्तविक सब पदार्थोंका निश्चय करना चाहता है तो इसी स्वाधीन ज्ञानका तू लाभ कर। व्यर्थके शकुनज्ञानमें मत फँस क्योंकि वह ज्ञान स्तोक—बिलकुल थोड़ा ज्ञान है। अविशद—परोक्ष और संशय करनेवाला है तथा कबूतरी आदिके सामने पड़

जानेसे समझ तो कुछ और शकुन लिया जाता है और हो कुछ और ही जाता है, इसलिये व्यभिचारी है ॥ ३० ॥

साहित्यिक रसों से आत्मरस भिन्न है—

नीलेंदीवरचंदनेंदुतरुणीतारुण्यपद्मादि यत्
रूपाढ्यं रसवच्च वर्णयसि तन्नानाविधैर्वर्णकैः ।
आत्मानं रसरूपवर्जितमिमं यद्यादरादीक्षसे
तत्काव्यव्यसनप्रलापचपलां वाचालतां मुंचसि ॥३१॥

अन्वयार्थ—हे काव्य रचयिता विद्वज्जनों, **नील इन्दीवर चन्दन-इन्दु-तारुण्य-तारुण्य पद्मादि**—नीलकमल-चन्दन-चन्द्रमा-तरुणी बाला-यौवन-कमल आदि पदार्थों के, **यत्**—जो, **रूपाढ्यम् रसवच्च**—रूपवान् रसवान् है, **तत्**—उनके, **नानाविधैः वर्णकैः**—नाना प्रकारके स्वरूपका काव्योंमें वर्णन करते हो **पर, पर यदि रूपरसवर्जितम्**—रूप रसादि रहित आमूर्तिक, **इमं आत्मानं**—अपनी इस आत्माको, **आदरात् ईक्षस**—आदर-रुचि-श्रद्धा-प्रीति-पूर्वक, **लिखे**—देखोगे, **तत्**—तो, **काव्य व्यसन-प्रलाप-चपलाम्-वाचालताम्**—काव्योंकी रचना का तुम्हें जो व्यसन है उनके प्रलापसे अपनी चंचल वाचालता को, **मुञ्चसि**—छोड़ दोगे ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे कविगण ! तू बड़ी खूबीके साथ भांति-भांति के वर्णनोंसे नील-कमल, चंदन, चन्द्रमा, युवति, युवावस्था और कमल आदिके रूप और रसोंका वर्णन करता है। यदि तू रस और रूपसे रहित इस आत्माकी ओर आदरसे दृष्टि लगावे तो वह जो तेरेमें काव्य बनानेका व्यसन पड़ रहा है और काव्यों की रचनासे जो तेरेमें बावदूकपना है वह सब नष्ट होजाय ।

भावार्थ—जब तक विद्वान् लोगोंको रूप, रस आदि जड़ पदार्थोंके धर्मोंसे सर्वथा रहित, अचिन्त्य, अविनाशी, सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंके भंडार आत्माका वास्तविक ज्ञान नहीं होता, उनकी दृष्टि आत्माके असली स्वरूपकी ओर नहीं झुकती, तब तक वे रागके कारण नील कमल आदि पदार्थोंके रूप रस आदि गुणोंका वर्णन करना ही अपना सर्वस्व समझते हैं और नवीन काव्योंकी रचना कर अपने पाण्डित्यका प्रसार करते हैं किंतु जिस समय उन्हें अपनी आत्माका असली ज्ञान हो जाता है उस समय वे यह समझकर कि नीलकमल आदि बाह्य पदार्थोंके गुण वर्णन करनेसे केवल पापका ही संचय होता है उनका सर्वथा वर्णन करना छोड़ देते हैं। इसी बातको हृदयमें धारण कर यहां ग्रंथकार कवियोंको उपदेश देते हैं कि—हे कवियो ! जबतक तुम्हें असली आत्माके

स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तभी तक तुम नीलकमल आदि बाह्य पदार्थोंके गुणोंका वर्णन करते हो और नवीन काव्य बनाकर अपनी वाचालता प्रगट करते हो किंतु जिस समय तुम्हें असली आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो जायगा उस समय तुम बाह्य पदार्थोंका व्यर्थ वर्णन भी न करोगे और नवीन-नवीन काव्योंके बनानेमें जो तुम्हारा वाग्विलास है वह भी एक ओर किनारा कर जायगा ॥ ३१ ॥

बाह्यरंग में रंगे बहुत हैं किन्तु आत्मरंगके ज्ञानसे विमुख हैं—

अत्यंतं बहिरंगरंगरसिकास्त्यक्तात्मसंवित्तयः
संख्यातुं कति यांति ये तु कृतिनो जिज्ञासवः केचन ।
कार्या तैरहितान्निवृत्तिरनु च प्राप्तिः प्रयत्नैर्हिते
दुःखोदर्कमिहाहितं सुखरसोदर्कं हितं तत्त्वतां ॥३२॥

अन्वयार्थ—बहिरंग रंग रसिकाः—बाहरी चटक मटकके रसिक, **अत्यन्तम् त्यक्तात्म संवित्तयः**—जिन्होंने आत्मज्ञानकी ओरसे सर्वथा मुख मोड़ लिया है वे, **संख्यातुं कति यान्ति**—संख्यासे बाहर कितने अधिक हैं, **ये तु कृतिनः जिज्ञासवः**—तथा जो कर्तव्यको समझने वाले आत्मबोधकी रुचि रखने वाले हैं वे, **केचन**—कोई-कोई विरले ही हैं, **तैः**—उन जिज्ञासुओंको, **अहितान् निवृत्ति**—अहितके कार्योंको त्याग कर, **अनु च हिते प्राप्तिः**—साथ ही हित-कारक कार्योंमें प्रवृत्ति, **प्रयत्नैः कार्या**—प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए, **इह अहितं दुख उदर्कम्**—यहां अहितके कार्योंका भावी फल दुख ही है, **हितम् सुख-रसोदर्कम्**—यहां हितके कार्य भावी कालमें सुखकारक हैं, **इति तत्त्वतां**—विवेकीजनों को ऐसी ही तर्कणा-युक्ति युक्त विचारणा करनी चाहिए।

अर्थ—जो मनुष्य रंग-बिरंगे बाह्य पदार्थोंके रंगमें रंग रहे हैं और आत्माके वास्तविक ज्ञानसे सर्वथा विमुख हैं ऐसे मनुष्योंकी यदि गणना की जाय तो बहुतसे मिलेंगे परन्तु जो मनुष्य कृति—धर्मात्मा हैं और जिज्ञासु—असली तत्त्वोंकी खोज करना चाहते हैं ऐसे मनुष्य कोई विरले ही होंगे, इसलिए जो मनुष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूप जाननेके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे अहितसे बचें और बड़े प्रयत्नसे हितमें प्रवृत्ति करें क्योंकि आगे अहितसे दुःख होता है और हितसे सुखकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रायः यह देखनेमें आता है कि बहुतसे मनुष्य बाह्य पदार्थोंकी चटक मटकमें ही उलझे रहते हैं-उन्हें ही अपने परम हितकारी मान अहोरात्र उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते रहते हैं इस रीतिसे उन्हें आत्माके असली

स्वरूपका ज्ञान भी नहीं होता–वे सर्वथा आत्मस्वरूपके ज्ञानसे विमुख रहते हैं इसलिये यदि गणना करके देखा जाय तो ऐसे ही मनुष्य बहुत मिलेंगे जो बाह्य पदार्थोंके रंगमें रंगे हों किंतु यथार्थता और असली तत्त्वके खोज करने वाले कोई एक विरले ही दृष्टिगोचर होंगे तथा संसारमें सुख भी उस समय हो सकता जब कि बुरे कामोंसे निवृत्ति और अच्छे कामोंमें प्रवृत्ति होगी इसलिये विवेकीजनोंको चाहिये कि वे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर अहितसे मुख मोड़ें और हित की ओर झुकें क्योंकि हितसे कल्याण और अहितसे अकल्याण होता है ॥ ३२ ॥

सांसारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है, अतः आत्मविद्या प्राप्त करो—

अस्वाधीनमसारमंतविरसं दुःखप्रदं वाऽयतौ
शास्त्रे प्रस्तुतमत्र निर्वृत्तिपथे सौख्यं न सांसारिकं ।
स्वाधीनं निरुपाधि बाधरहितं निःसीम यत्तत्सुखं
विद्यां तज्जननीं हिताय समुपादद्यादविद्यां त्यजेत् ॥३३॥

अन्वयार्थ—**सांसारिकं सुखम्**—संसार में प्राप्त होने वाला सुख, **अस्वाधीनम्**—आत्मा के आधीन नहीं है। इन्द्रियों और पदार्थ संयोग के आधार पर है अर्थात् पराधीन है, **असारम्**—यह निःसार है, **अंत विरसम्**—क्योंकि नाशवान् है, अन्त में विरस है, **आयतौ दुःख प्रदम् वा**—और आगामी कालमें दुखदायक भी है इसलिए, **शास्त्रे**—जिनागममें, **निवृत्तिपथे**—मोक्षमार्ग में उसे, **सौख्यं न प्रस्तुतम्**—उसे सुख नहीं कहा गया है।

यत् सुखम्—जो सुख, **स्वाधीनम्**—आत्मा के ही आधीन है, पराधीन नहीं है, **निरुपाधि**—सभी उपाधियों से रहित **बाधरहितम्**—जिसमें कभी बाधा नहीं आती, **निःसीम्**—जिसका अंत नहीं है अनन्त है, **तत्**—वह सुख है, **हिताय**—अपने हित के लिए, **तज्जननीम् विद्याम्**—उसकी उत्पादक विद्या को, **समुपदद्यात्**—अपने में उत्पन्न करो और, **अविद्याम्**—अहित कारक अज्ञानकको, **त्यजेत्**—छोड़ दो ॥ ३३ ॥

अर्थ—संसार सुख पराधीन, असार, अंतमें विरस और उत्तरकालमें दुःख देनेवाला है इसलिये शास्त्रकारोंने मोक्षके मार्गस्वरूप शास्त्रोंमें संसारके सुखको सुख नहीं बतलाया है किंतु जो सुख स्वाधीन, सारभूत, राग द्वेष आदि उपाधि और बाधाओंसे रहित एवं असीम है, वही वास्तविक सुख है। इसलिये जो मनुष्य इस उत्तम सुखको प्राप्त करना चाहते हैं वे आत्मा के हितके

उस सुखकी जननी-उत्पन्न करनेवाली विद्याका अवलंबन करें और उसको प्राप्त न कराने वाली अविद्याका सर्वथा त्याग कर दें।

भावार्थ—संसारमें जो सुख इन्द्रियोंसे जन्य हैं, उसे लोग सुख मानते हैं परन्तु वह सुख, सुख कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह धन स्त्री वा इन्द्रिय आदि पदार्थोंसे उत्पन्न है। इसलिये पराधीन है, निःसार है, परिणाममें कड़वा है। इन्द्रियजन्य सुख पहले तो मीठा लगता है परन्तु पीछे उससे भयंकर दुख भोगने पड़ते हैं और आगामीकालमें भी दुःखका देनेवाला है परन्तु जो सुख मोक्षमें प्राप्त होता है, वह वैसा नहीं, क्योंकि वह आत्माधीन है, रागद्वेष आदि दुःखदायी उपाधियोंसे रहित है, अव्याबाध स्वरूप और असीम है इसलिये उत्तम सुखके प्रेमियोंको चाहिये कि वे इस अनुपम सुखको उत्पन्न करनेवाली विद्याका अवलंबन करें और जिससे वह सुख न उत्पन्न हो सके ऐसी अविद्याका संबंध सर्वथा छोड़ दे॥ ३३॥

आध्यात्म विद्या ही संसाररूपी विष वृक्ष का उन्मूलन करेगा—

या सद्दर्शनबोधचारुचरिता साध्यात्मविद्या परा
विद्या स्यादथ वैपरीत्यविहितस्पंदामविद्यां विदुः।
एषा नात्महितेति दुःखनिकरक्लेदांकुरोत्पादिनीं
क्षेमार्थी विषकंदलीमिव समुच्छिद्याद्बुधो नेतरः॥३४॥

अन्वयार्थ—**या विद्या सद्दर्शन-बोध-चारुचारिता**—जो विद्या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे युक्त है, **सा आध्यात्म विद्या परा विद्या स्यात्**—वह आध्यात्म विद्या श्रेष्ठ-सर्वोत्कृष्ट विद्या है, **अथ तथा वैपरीत्य विहितस्पंदाम्**—परन्तु जो इसके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से दूषित हैं उसे, **अविद्याम् विदुः**—ज्ञानीजन अविद्या ही कहते हैं, **एषा न आत्महिता**—यह अविद्या आत्माकी हितकारिणी नहीं है। किन्तु **दुःखनिकरक्लेदांकुर-उत्पादनीम्**—नाना दुःख रूपी फलों को उत्पन्न करनेवाली, विषांकुर पैदा करने वाली है। इसलिये **क्षेमार्थी**—कल्याण चाहने वाला, **विषकन्दलीम् इव**—विष बेल की तरह, **समुच्छिद्यात्**—इसे उखाड़ फेंक देता है, **न इतरः**—जो हितार्थी नहीं हैं वे इसी में रचे-पचे हैं॥ ३४॥

अर्थ—जो विद्या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से भूषित है वह आत्मविद्या-आत्माके वास्तविक स्वरूपको बतलानेवाली, उत्कृष्ट विद्या है परंतु जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कलंकित है,

और बाह्य पदार्थोंमें रिझानेवाली वह अविद्या है। एवं यह अविद्या नाना-प्रकारके दुःख रूपी अंकुरोंको उत्पन्न करनेवाली विषवृक्षकी लताके समान है इसलिये जो पुरुष विद्वान् हैं—आत्माका वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना चाहते हैं, वे तो यह जानकर कि अविद्यासे कभी आत्म कल्याण नहीं हो सकता अतः इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं किंतु जो मनुष्य मूढ़ है-इन्द्रियोंका पोषण करना ही सब कुछ समझते हैं वे इसीमें लीन बने रहते हैं ॥३४॥

पापफलोत्पादक अविद्यारूपी बेलको उखाड़ना ही श्रेयस्कर है—

या चित्तभ्रममूलसंचयवती मिथ्यालवालोत्थिता
यस्या मोहतरुर्विकल्पवलनैरारोहणायाश्रयः ।
रागाद्या नव पल्लवानि विषयाः पुष्पाणि पापं फलं
संसारप्रसरेण सा जगदपि व्याप्नोत्यविद्यालता ॥३५॥

अन्वयार्थ—**या**—जो, **अविद्यालता**—अज्ञानकी वह बेल है, **चित्तभ्रम-मूल-संचयवती**—चित्तभ्रम ही इसकी जड़ है, **मिथ्यालवालोत्थिता**—मिथ्या-त्वकी क्यारीमें पैदा होती है। **यस्या**—जिसका आश्रय, **विकल्पवलनैरारोह-णायाश्रयःमोहतरु**—नाना विकल्प रूपी मोड़े देकर चढ़ने का आधार मोहवृक्ष है, **रागाद्याः नव पल्लवानि**—रागादिभाव ही उस बेल के नए-नए पत्ते हैं, **विषयाः**—इन्द्रियोंके विषय ही, **पुष्पाणि**—इसके फूल हैं, **पापं फलम्**—पाप ही जिसके फल हैं, **सा**—वह अविद्या लता, **संसार प्रसरेण**—संसार को बढ़ाती हुई, **जगत्-अपि व्याप्नोति**—सारे संसारमें फैलती है ॥३५॥

अर्थ—यह अविद्या लताके समान है क्योंकि भ्रांति—विपरीत ज्ञानरूप इसकी मजबूत जड़ है। मिथ्यात्वरूपी आलवाल-क्यारी है। मोहरूपी वृक्ष आश्रय है जिसपर कि नानाप्रकारके संकल्प विकल्परूपी मोड़े देकर चढ़ा जाता है। राग-द्वेष आदि नवीन-नवीन पल्लव हैं। इन्द्रियोंके विषय पुष्प और और पाप फल हैं तथा प्रायः यह समस्त संसारमें फैली हुई है इसलिये अपने फैलावसे इसने समस्त जगत् व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ—अविद्यासे पदार्थोंमें भ्रांति-कुछ का कुछ ज्ञान हो जाता है। मिथ्याश्रद्धान्, मोह, नानाप्रकारके विकल्प, रागद्वेष, क्रोध, मान आदि इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति और पापोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे अविद्यारूपी विशाल शत्रुसे बचें और परम कल्याणकारी आध्यात्मविद्याको अपनावें ॥३५॥

अविद्या ही घोर अन्धकार है—

सूक्ष्मे सन्निहितेऽपि वस्तुनि नृणां दृष्टिं तिरस्कुर्वती
संदेहं च विपर्ययं च चिदचिद्रूपद्वये तन्वती।
कुर्वाणा सकलं सदप्यसदिति स्वच्छात्मचंद्रोदयं
मिथ्यातामसकृष्णपक्षरजनी लुंपत्यविद्या बलात् ॥३६॥

अन्वयार्थ—**अविद्या**—यह अज्ञान स्वरूप अविद्या, **सूक्ष्मे सन्निहितेऽपि वस्तुनि**—पास में रखे हुये भी सूक्ष्म पदार्थोंमें, **नृणाम् दृष्टिम् तिरस्कुर्वति**—मनुष्योंकी दृष्टिका तिरस्कार करती है अर्थात् जानने नहीं देती। इतना ही नहीं किन्तु, **चित्-अचित्-रूपद्वये**—सचेतन और अचेतन दोनोंके स्वरूपमें, **संदेहम्**—संदेहका तथा **विपर्ययं च**—विपरीत ज्ञानको भी, **तन्वती**—विस्तृत करती है, **सकलं सत् अपि असत् इति कुर्वाणा**—सम्पूर्ण सत् पदार्थोंको असत् बतलाती है और, **स्वच्छ-आत्मचन्द्र उदयम्**—निर्मल आत्मज्ञान रूपी चन्द्रमा को भी, **मिथ्यातामसकृष्णपक्षरजनी**—मिथ्यादर्शन रूपी अंधकारके प्रसार को कृष्णपक्षकी रात्रिके समान, **बलात् लुम्पति**—बलपूर्वक लुप्त करती है ॥३६॥

अर्थ—यह अविद्या पासमें रक्खे हुये सूक्ष्म पदार्थको नहीं जानने देती। चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके पदार्थोंमें संदेह वा भ्रम कर देती है और विद्यमान भी निर्मल आत्मारूपी चंद्रमाके उदयको अविद्यमान सरीखा कर देती है इसलिये यह मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारको धारण करने वाली अंधेरी रात है।

भावार्थ—जिसप्रकार अंधेरी रातमें रक्खा हुआ भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, स्पष्टरूपसे न दिखनेके कारण सीप चांदी, चांदी सीप, रस्सी सर्प, सर्प रस्सी, व सूखा ठूंठ पुरुष मालूम होने लगता है और विद्यमान भी चंद्रमा अविद्यमान सरीखा जान पड़ता है उसीप्रकार इस विद्याके होनेपर पासमें रक्खा हुआ भी पदार्थ, पूर्णरूपसे ज्ञात नहीं होता, ज्ञात भी होता है तो उसका विपरीत ज्ञान वा यह क्या है? ऐसा संदेहात्मक ज्ञान हो जाता है किंतु परमशुद्ध निष्कलंक आत्माका भान नहीं होता ॥३६॥

अविद्या नरक के अंधकूप में भटकाती है—

रागं रत्यभिधंगरंगरसिकं दृग्विभ्रमैः कुर्वति
चारित्रेण सहापहृत्य सहसा विद्याविवेकोन्नतौ।

निष्पापं कुलमंगनेव मदनोन्मादैरविद्या हठात्
पापं कारयति प्रपातयति च श्वभ्रांधकूपे नरं ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—अविद्या रूप कुलटा स्त्री, **रति अभिषंग रंग रसिकम्**—रति-क्रीडाके इच्छुक जनों को, **दृग्विभ्रमैः रागं कुर्वती**—नेत्रोंके कटाक्ष पातसे राग उत्पन्न करती हुई, **चारित्रेण सह**—उज्जवल चारित्रके साथ-साथ, **विद्या विवेकोन्नती**—विद्या और विवेककी उन्नति को, **सहसा अपहृत्य**—अचानक (एकदम) मिटाकर, **मदनोन्मादैः**—कामके उद्रेक से युक्त,**अंगना निष्पापं कुलम्**—कुलटा स्त्री निष्कलंक कुलको भी, **पापं कारयति**—पाप रूप बनाती है, कलंकित करती है। इसी प्रकार **अविद्या**—अविद्या रूप कुलटा स्त्री भी, **नरम्**—मनुष्य को, **श्वभ्रांधकूपे पातयति**—नरकरूपी अंधकूपमें पटकती है। वह भी दर्शन को मिथ्यादर्शन करती हुई चारित्र और विवेक से दूर करती है।

अर्थ—यह अविद्या व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्री जिसप्रकार मनुष्यको अपने कटाक्षपातसे रतिक्रीड़ाके रसकी चाहना करानेवाले रागको उत्पन्न करती है उसी प्रकार अविद्या भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और रतिक्रीड़ाके रसकी चाहना करानेवाले रागको उत्पन्न करती है। व्यभिचारिणी स्त्रीके संबंधसे जिसप्रकार चारित्र, विद्या और विवेक एक ओर किनारा कर जाते हैं। उसीप्रकार अविद्याके संबंधसे भी चारित्र, विद्या और विवेक नष्ट हो जाते हैं। व्यभिचारिणी स्त्री जिस प्रकार कामके उन्मादसे निष्कलंक कुलको कलंकित बना देती है उसीप्रकार अविद्या भी निर्दोष कुलको सदोष बना देती है और व्यभिचारिणी स्त्री जिसप्रकार मनुष्यको नरककूपमें डाल देती है उसीप्रकार अविद्या भी मनुष्यको नरक कूपमें डुबानेवाली है॥ ३७ ॥

क्षणभंगुर पदार्थों से कोई उपलब्धि नहीं होती—

किं स्वप्नेन किमिंद्रजालकलया विद्युद्विलासेन किं
छायाक्रीडनकेन किं किममुना यंत्रप्रयोगेण च।
किं गंधर्वपुरेण तानि नियतान्यालोकय व्यापिनीं
लोके तत्क्षणदृष्टनष्टविलसच्चेष्टामविद्यालतां ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—**किं स्वप्नेन**—स्वप्न से क्या ? जो तत्काल नष्ट होता है, **किम् इन्द्रजाल कलया**—इन्द्रजाल, (जादू की विद्या) से भी क्या ?, **विद्युत्**

विलासेन किम्—क्षण भरमें विलीन होनेवाली बिजलीकी चमकसे भी क्या ?, **छाया क्रीडनकेन किम्**—छाया चित्रों की चंचल क्रीडा से भी क्या ? **अमुना यंत्र प्रयोगेण च किम्**—चलायमान यन्त्रों के प्रयोगों से तथा, **गंधर्वपुरेण**—आकाश नगर से भी क्या ?, **तानि नियतानि**—वे तो नियत समय तक ही ठहरने वाले हैं। किन्तु इस, **अविद्यालतां**—अज्ञान लता को, **आलोक्य**—देखो जो, **व्यापिनीं**—जगत् में फैली हुई है और, **तत् क्षण दृष्ट नष्ट-विलसत्-चेष्टाम्**—जो तत्क्षण में ही दिखाई देकर नष्ट होने की चेष्टा वाली है ॥३८॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तू स्वप्न में देखे हुये पदार्थोंसे, इन्द्रजालकी सूझोंसे, बिजलीकी चमकसे, तस्वीरोंके देखनेसे, चलते हुये यन्त्र और गन्धर्व नगरके देखनेसे कौतूहल मानता है सो व्यर्थ है क्योंकि ये नियत हैं—बिलकुल थोड़े देशमें वा बिलकुल थोड़े काल तक ठहरने वाले हैं इस अविद्याकी ओर क्यों नहीं देखता ? क्योंकि यह सर्वत्र व्यापक-विद्यमान है और क्षणभर दीखकर नष्ट होनेवाली अनेक चेष्टाओंसे युक्त है।

भावार्थ—स्वप्न, इन्द्रजाल, बिजली चित्र यन्त्र और गन्धर्व नगरके देखनेमें जो कुछ चमत्कारी दृष्टि गोचर होती है वह सब अविद्याका ही माहात्म्य है—इन्द्रजाल आदि सब अविद्याके ही विलास हैं। इसलिये हे आत्मन् ! तू सबकी जननी और सर्वत्र फैली हुई अविद्याको देख, इन्द्रजाल आदिको देखकर क्यों भौंचक होता है ! ये सब तो उसके टुकड़े हैं ॥ ३८ ॥

अविद्या का परिवार इस प्रकार है—

एतस्या ममताकलत्रसहिताऽहंकारनामात्मजः
संकल्पौ स्वपरात्मकावथ तयोः पुत्रौ ततश्चैतयोः।
भार्ये रत्यरती सुखासुखसुतप्रोद्भासिते इत्यहो
सन्तानेन सहाक्षयेण महती नंदत्यविद्यां चिरं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—**एतस्याः**—इस अविद्या का परिवार बड़ा है। **ममता कलत्र सहिताऽहंकार नाम आत्मजः**—इस अविद्या का पुत्र अहंकार तथा उसकी स्त्री ममता है, **तयोः पुत्रौः**—इन दोनों के दो पुत्र हैं, **स्वपरात्मकौ संकल्पौ**—स्व तथा पर विषयक संकल्प, **अथ एतयोः भार्ये रति-अरति**—इन दोनों पुत्रों की दो भार्याएं हैं—रति और अरति, **सुखासुखसुतप्रोद्भासिते**—इसके सुख-दुख दो पुत्र हुये हैं। इस प्रकार, **महती अविद्या**—यह विशाल अविद्या अपनी **अक्षयेण सन्तानेन सह**—चिरंजीवी सन्तान के साथ हो, **चिरंनन्दति**—सदा आनन्द से बढ़ रही है, **इति अहो**—यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अर्थ—इस अविद्याका पुत्र अहंकार है। ममता अहंकारकी स्त्री है। अपने संकल्प-विकल्प और परके संकल्प-विकल्प-ये दो अहंकारके पुत्र हैं। उन दोनों पुत्रोंकी क्रमसे रति और अरति दो स्त्रियां हैं और उनके सुख-दुख दो पुत्र हैं इस प्रकार हे आत्मन्! इस अविद्याका विशाल किन्तु अक्षय परिवार है और उसके साथ यह दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होती रहती है।

भावार्थ—अविद्यासे अहंकार, परपदार्थोंमें ममता, नाना प्रकारके संकल्प विकल्प, रति-अरति, राग-द्वेष, तथा और सुख-दुःख होते हैं जैसे-जैसे अहंकार, ममता आदि बढ़ते जाते हैं वैसी वैसी अविद्या भी बढ़ती चली जाती है ॥३९॥

अविद्या पिशाची के कार्य—

तर्षाद्धावति धूप्यते श्रमवशान्निद्राति विद्राति च
क्रौर्यान्निष्कृष्यति युध्यति प्रहरते रोषाच्च संदीप्यते
हर्षाद्गायति नृत्यति प्रहसति क्रीडत्यसौ चंचलो-
लोकः किं न करोति चंडचपलाविद्यापिशाचीवशः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—**चंड-चपला-अविद्या पिशाची वशः लोकः**—प्रचण्ड-चंचल अविद्यारूपी पिशाची के वश हुआ यह संसार, **किम् न करोति**—क्या-क्या अनर्थ नहीं करता? **तर्षात् धावति**—तृष्णा या लालसा की पूर्ति के लिए सर्वत्र दौड़ता फिरता है। **धूप्यते**—गर्मी की बाधा सहता है। **श्रम वशात् निद्राति**—श्रम में थक कर निद्रा लेता है, **विद्राति च**—और वहां-वहां उच्च-नीच स्थानों में भ्रमण करता है। **क्रौर्यात्**—क्रूर परिणाम से, **कृष्यति, युध्यति प्रहरते**—गुस्सा करता है, लड़ता है, अन्य को मारता है। **रोषात् च संदीप्यते**—क्रोध से स्वयं संतप्त होता है।

हर्षात् गायति—हर्ष से गाता है, **नृत्यति**—नाचता है, **प्रहसति**—अट्ठहास करता है। इस प्रकार, **असौ चंचलो लोकः**—यह चंचल लोक सारी क्रियाएँ अविद्या के कारण ही करता है ॥ ४० ॥

अर्थ—प्रचंड चंचल अविद्यारूपी पिशाचीके वशीभूत यह निर्बुद्धि लोक, धन आदिकी तृष्णासे दौड़ता है, धूप सहता है, थक जाता है तो सोता है, बुरी जगह जाता है, रतासे गुस्सा होता है, युद्ध करता है, रोषसे दूसरोंको मारता है, प्रज्वलित होता है, हर्षसे मत्त हो गाता है, नाचता है, हँसता है, कूदता है, विशेष क्या कहा जाय? अविद्यासे यह मनुष्य नीच-ऊँच सब प्रकारके काम करता है।

भावार्थ—यदि लोकपर अविद्याका प्रभाव न पड़ा होता तो यह तृष्णासे जहाँ तहाँ क्यों दौड़ता ! क्यों धूप सहता ! क्यों निद्रा लेता और निन्दित स्थानोंपर गमन करता ! क्यों क्रोध करता, युद्ध करता, मारता और प्रज्वलित होता ! और क्यों ही गाता, नाचता, हँसता और खेलता ! परन्तु अविद्या पिशाचिनीके फंदेमें पड़कर इसे सब कुछ करना पड़ता है क्योंकि यह लोकको पागल बना देती है ॥ ४० ॥

अविद्याके वशीभूत जीवका नाटक देखो—

सोल्लासैः करणैः कृतांगवलनभ्रूलास्यदृग्वल्गितै-
र्भावैः सात्विकभावभावितरसैः संचारिभिः स्थायिभिः
शृंगारोत्तरहारिहास्यकरणस्फारामविद्याभिधां
लोकः पश्यत नाटिकां नटनिभो नित्यं नरीनृत्यते ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—अविद्या से उन्मत्त यह लोक,**सोल्लासैः करणैः**—प्रसन्नता को प्राप्त इन्द्रियों द्वारा, **कृतांग-वलन-भ्रू-लास्य दृग्वल्गितैः भावैः**—अंगों का मटकाना, भौंहों का नचाना, नेत्रों से प्रकट किए गये विविध भावों के द्वारा, **सात्विक-भावभावितरसैः**—सात्विक भावों से भावित, **संचारिभिः स्थायिभिः**—संचारी और स्थायी भावों से, **शृंगारोत्तर हारि-हास्य-करण-स्फाराम्**—शृंगार-हास्य-करुण आदि रसों का प्रसार करता हुआ, **अविद्या नाटिकां**—अविद्या का नाटक करता हुआ, **नटवत्**—नट के समान यह जीव, **नित्यं नरी-नृत्यते**—सदा बार-बार नाचता रहता है उसे, **लोकः पश्यत**—हे लोकजन ! देखो ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिसमें समस्त इन्द्रियाँ हुलसायमान रहती हैं। शरीरका मटकाना, भौंहोंका चलाना और कटाक्ष विक्षेप किया जाता है। जहां सात्विक भावोंसे प्रकट किये गये रसोंसे युक्त स्थायी, संचारी भावोंका प्रयोग होता है और जो शृङ्गार आदि रस एवं विशेषकर हास्य रससे सुहावना जान पड़ता है ऐसे इस अविद्यारूपी नाटकको देखो ! यह जीव इसी अविद्यारूपी नाटकमें सदा नृत्य करता रहता है।

भावार्थ—इस लोकपर अविद्याका ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि यह मूढ बन गया है कभी यह इन्द्रियोंका प्रिय काम करता है, कभी किसीकी भलाई तो कभी किसीकी बुराई करता है और कभी कभी शृङ्गार आदि रसोंमें मग्न रहा आता है परन्तु कल्याणकारी आत्मस्वरूपके जाननेका कभी प्रयत्न नहीं करता ॥ ४१ ॥

भेदज्ञानका प्रभाव—

कामक्रोधमदादिदुःपरिणतिप्रायं पृथक्कर्म मे
कायस्तज्जनितो मम व्यवहितस्तेनार्जितो यः किल
दूरे बाह्यपरिग्रहः स इति हि प्रत्येतुमर्होऽपि सन्
एतत्सर्वमविद्यया परवशो न त्वं पृथग्मन्यसे ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—**काम-क्रोध-मदादि-दुःपरिणति प्रायं कर्म**—काम का, क्रोध का तथा अहंकारादि सर्वपरिणाम रूप भावकर्म, **मे पृथक्**—मेरे से जुदे हैं, **तज्जनितः कायः**—कर्मोदय के फलस्वरूप यह शरीर है सो वह भी, **मम व्यवहितः**—मुझसे भिन्न ही है। **तेन**—उस काय के द्वारा, **अर्जितः यः किल बाह्य-परिग्रहः**—संचित किया हुआ धन-धान्यादि बाह्यिरो परिग्रह है, **सः**—वह भी मुझसे, **दूरे**—बहुत भिन्न है, **इति हि प्रत्येतुं अर्हः अपि सन्**—इस बात का विश्वास करने योग्य मैं हूँ ऐसा जानकर भी, **अविद्यया परवशः**—अज्ञान भाव के परवश हुआ, **त्वं**—तू, **एतत् सर्वं पृथक् न मन्यसे**—इन सबको अपने से पृथक् नहीं मानता ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू इस बातको खूब जान सकता है कि काम, क्रोध, मद आदि निन्दित परिणामोंका धारक कर्म मुझसे जुदा है। यह जो मेरा शरीर है वह कर्मसे उत्पन्न हुआ है इसलिये यह भी मुझसे भिन्न है। शरीरसे उपार्जित किये धन, गाय, भैंस, स्त्री आदि बाह्यपरिग्रह भी मेरे नहीं हैं अर्थात् मुझसे सर्वथा पृथक् हैं परन्तु तू अविद्याके बिलकुल परवश हो रहा है-उसने तेरे ऊपर अपना पूरा पूरा प्रभाव जमा रक्खा है इसलिये तू उन्हें भिन्न नहीं समझता अर्थात् आत्मा, कर्म और शरीर आदि पदार्थ एक ही है ऐसा मानता है।

भावार्थ—कर्म, शरीर, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न है क्योंकि आत्मा चेतन है और कर्म आदि जड़ हैं इसलिये ये कभी एक हो ही नहीं सकते तथा आत्मा और कर्म आदिकी भिन्नताको यह आत्मा जान भी सकता है परन्तु अविद्याके प्रबल पर्देने इसकी समीचीन ज्ञान शक्तिको ढक रक्खा है। इसलिये इसे उनकी भिन्नताका भान होना जरा कठिन है ॥ ४२ ॥

सतवन्ती विद्याको छोड़कर असती अविद्याको क्यों अपनाते हो—

आत्मन् ! सन्निहितैव तिष्ठति सदा विद्या जगत्पावनी
सच्चारित्रसुदर्शनोज्वलसत्तेजोभिरुद्भासिता

एनां मुंचसि किं सतीं किमसतीं दुष्टामविद्यां मुहुः
सर्वत्र व्यभिचारिणीं रमयसे दृष्टो विवेकस्तव ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—हे आत्मन्—अरे आत्मा ! **जगत्पावनी**—सारे जगत् को पवित्र करने वाला, **विद्या**—ज्ञान, **सदा सन्निहिता एव तिष्ठति**—सदा तेरे समीप ही है जो, **सत् चारित्र-सुदर्शन-उज्वल लसत् तेजोभिः**—सम्यक् चारित्र, सम्यग्दर्शन आदि के उज्जवल-श्रेष्ठ तेज द्वारा, **उद्भासिता**—तेरे में प्रकाशमान है इस, **सतीम्**—सती (शुद्ध शीला) विद्या को, **किं मुञ्चति**—क्यों छोड़ते हो तथा, **असतीं दुष्टाम्-अविद्याम्**—कुत्सित शीला दुष्ट अविद्या को, जो कि **सर्वत्र व्यभिचारिणीं**—सब जगह व्यभिचार करती है उससे, **रमयसे**—रमण करते हो, **तव विवेकः दृष्टः**—तेरा विवेक देख लिया। क्या यही तुम्हारा विवेक है ? ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! समस्त जगतको पवित्र करनेवाली और सम्यक् चरित्र और सम्यग्दर्शन रूपी अतिशय निर्मल तेजसे देदीप्यमान यह विद्या सदा तेरे समीपमें ही रहती है परंतु इस सती साध्वी विद्याको तो तू छोड़ देता है और महा दुष्टिनी सर्वत्र व्यभिचारिणी-सब जगह दुष्टिगोचर होनेवाली अविद्याके साथ आनंद से रमण करता है !!! बस, देख लिया तेरा विवेक (हित-अहित) का ज्ञान ?

भावार्थ—जिसप्रकार अनेक गुणोंसे भूषित अपनी सती-साध्वी स्त्रीको छोड़कर महा व्यभिचारिणी अनेक दोषोंकी खान वेश्या आदिके साथ रमण करनेवाला पुरुष महा निंदित-नीच गिना जाता है, उसीप्रकार हे आत्मन् ! तू भी महा नीच और निंदित है क्योंकि जो विद्या समस्त जगत्को पवित्र करनेवाली है, सम्यग्दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुणोंसे भूषित, निर्दोष और सदा तेरे पास रहती है उसकी ओर तो तू झांक कर भी नहीं देखता किन्तु अनेक दोषोंकी खान, सर्वथा अहित करनेवाली और समस्त संसारमें फैली हुई अविद्यासे प्रेम करता है तथा तिसपर भी यह कहता है कि मैं बड़ा विवेकी हूँ ? बस रहने दे, तेरे ऐसे विवेकके लिये हजार बार धिक्कार है ॥ ४३ ॥

अविद्यारूपी विषकन्याका शीघ्र त्याग तथा अध्यात्म विद्या का सम्मान करो—

रागद्वेषविषान्नपोषविषमा स्पर्शादिभिर्जीवहृत्
त्यक्तव्या विषकन्यकेव नियतं दूराविद्या त्वया

एह्येहि श्रुतिशुक्तिपात्रनिहितां संतर्पणायात्मनो-
निर्वाणामृतसारपूर्णकलशीमध्यात्मविद्यां पिब ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—**अविद्या**—यह अविद्या, **नियतं विषकन्यका इव**—नियमसे विष कन्याके समान ही है, **रागद्वेष-विषान्न पोष विषमा**—रागद्वेष रूपी विष युक्त अन्नसे पुष्ट अत्यन्त विषम है, **स्पर्शादिभिः जीवहृत्**—जो छूने मात्रसे ही उस विषके कारण प्राणनाशक है। उसे विषकन्या की तरह प्राण-घातिनी मानकर, **दूरात् त्वया त्यक्तव्यः**—तुम्हें दूरसे ही छोड़ देनी चाहिए।

एहि एहि—अरे! यहाँ आओ; यहाँ आओ, **निर्वाण-अमृत सार पूर्ण कलशीम्**—निर्वाण रूप अमृत रससे भरे कलशके समान, **अध्यात्म विद्याम्**—इस अध्यात्म विद्यारूपी अमृतको, **आत्मनः संतर्पणाय**—आत्मा की तृप्तिके लिए, **श्रुति शुक्तिपात्र निहिताम्**—जो श्रुति, (शास्त्र)—रूपी सीपके पात्रमें है उसे, **पिब**—पीओ, ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यह अविद्या रागद्वेषरूपी विषमय अन्नकी पुष्टिसे महा विषम और स्पर्श करते ही प्राणोंकी हरण करनेवाली विषकन्याके समान है इसका तू सर्वथा त्याग करदे और यहाँ आ, देख यह शास्त्ररूपी सीपके स्वच्छ पात्र पर रक्खी हुई निर्वाणरूपी महामिष्ट अमृतरसकी भरी हुई कलशी, अध्यात्म विद्या मौजूद है। अपनी आत्माकी तृप्तिकेलिये इसे पी।

भावार्थ—जिसप्रकार सर्पिणी विषके उत्पन्न करनेवाली चीजोंके खानेसे महा भयंकर और स्पर्श करते ही प्राण हरनेवाली होती है उसीप्रकार यह अविद्या भी राग द्वेषसे विषम और जीवनको नष्ट करनेवाली है अर्थात् राग-द्वेषके चक्रमें पड़कर अनंतकाल संसारमें घूमना और आत्माके स्वरूपसे वंचित रहना पड़ता है इसलिये हे आत्मन्! तू इस महा निकृष्ट अविद्याका संबंध छोड़ दे और आत्माको तृप्त करनेवाली, अतिशय स्वच्छ सीपके पात्रपर रक्खी हुई महामिष्ट अमृतजलकी भरी हुई कलशीके समान भले प्रकार शास्त्रोंमें वर्णित इस अध्यात्मविद्याका रसास्वादन कर ॥ ४४ ॥

ध्यानरूपी नौकासे अविद्या नदी पार की जा सकती है—

जन्मोन्मज्जनमृत्युमज्जनकरी निम्नं नयंती हठात्
घोरापारभवार्णवं नयति या जंतूनविद्या नदी

तस्यामाविश खंडितोत्तमपथा सा दुस्तरोत्तीर्यतां
विद्यानावमवाप्य योगिकमहाकाष्ठोच्चयाधिष्ठितां ॥४५॥

अन्वयार्थ—अविद्या नदी—अविद्या एक नदीके समान है, **या जंतून्**—जो प्राणियोंको **जन्मोन्मज्जन-मृत्यु-मज्जनकरी**—जो बार-बार जन्मरूपी उछाल और मृत्यु रूपी डुबावको पैदा करती रहती है, **हठात्**—बलपूर्वक, **निम्नं नयंती**—नीचे की ओर ले जाती है, **घोर-अपार-भव-अर्णवम्**—जिसका कोई छोर नहीं है ऐसे संसार रूपी समुद्रमें, **नयति**—ले जाती है, **सा दुस्तरा**—वह तरी नहीं जा सकती, **खण्डितोत्तम पथा**—जाने-आनेके मार्गको जिसने खण्डित कर दिया है, **तस्याम्**—उस नदी में तुम, **योगिक महाकाष्ठ-उच्चय-अधिष्ठिताम्**—ध्यान रूपी बड़े पुष्ट काष्ठोंके समूहसे बनी हुई, **विद्या नावम् अवाप्य**—सम्यग्ज्ञान रूपी नौका पर बैठकर, **आविश**—पार करो ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो अविद्यारूपी नदी जन्मरूपी उन्मज्जन (उछलना) और मृत्युरूपी मज्जन (डूबना,) करानेवाली है। बलपूर्वक नीचे-तलीमें घसीटकर ले जानेवाली है और इस संसाररूपी अपार समुद्रमें जीवोंको घुमानेवाली है। उसमें जानेका मार्ग उत्तम नहीं है। इसप्रकार वह दुस्तर है—जल्दी तिरी नहीं जा सकती। इसलिये हे आत्मन्! तू ध्यान रूपी काष्ठ समूहसे भरी हुई विद्यारूपी नावमें बैठकर उस नदीमें प्रवेशकर।

भावार्थ—जिसप्रकार नदी अपनेमें गिरे हुये मनुष्यको उछालती डुबाती हुई गोता खिलाती है। घसीटकर नीचे तलीपर ले जाती है। समुद्रमें लेजाकर छोड़ देती है और दुस्तर भी है परन्तु जो मनुष्य समझदार हैं वे काष्ठसे भरी हुई नावपर सवार हो उसे पारकर जाते हैं उसीप्रकार यह अविद्या भी मनुष्यको जन्म मरणका दुःख भुगानेवाली, नरक ले जानेवाली और इस अपार संसारमें घुमानेवाली है एवं इसके चक्रसे छूटना भी बड़ा कठिन है परन्तु जो मनुष्य अध्यात्मविद्याके प्रेमी हैं वे ध्यानके बलसे इसे देखते-देखते नष्ट कर देते हैं। अध्यात्मविद्याके सामने इसका जरा भी प्रकोप नहीं रहने पाता ॥ ४५ ॥

अध्यात्म विद्या तेरे पास है उसे प्रमाद छोड़कर अपनाओ—

निद्रातर्षक्षुधार्तिश्रममरणजराजन्मभीमन्मथाद्या—
दोषाः कर्मैकमूलास्तदुपशमनविधिः कर्मणां प्रक्षयेण

हेतुस्तेषामविद्या नयति परमिमामंतमध्यात्मविद्या
सा स्वाधीना तवास्ते प्रतिसमयमनुष्ठीयतामप्रमादात् ॥४६॥

अन्वयार्थ—संसारी प्राणियोंमें, **निद्रा-तर्ष-क्षुधा-अति-श्रम-मरण-जरा-जन्म-भी-मन्मथाद्या-दोषाः**—निद्रा का आना, प्यास या तृष्णा-पीड़ा-थकावट-मरण-बुढ़ापा-जन्म-भय-कामबाधा आदि अनेक दोष पाए जाते हैं। ये सभी दोष, **कर्म-एकमूलाः**—कर्म मूलक हैं, **तेषां हेतुः-अविद्या**—इन कर्मोंके उत्पादन का कारण अविद्या है, **कर्मणां प्रक्षयेण**—कर्मोंके क्षयसे ही **तदुपशमनविधिः**—इन दोषोंका निराकरण होता है, **इमाम्**—इस अविद्याको, **अध्यात्म विद्या**—अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञान ही, **परम् अन्तम् नयति**—सर्वथा नाशको प्राप्त कराता है, **सा**—अध्यात्म विद्या, **तव स्वाधीना आस्ते**—तुम्हारे पास स्वतंत्रतासे है, अतः **अप्रमादात्**—प्रमाद रहित होकर, **प्रतिसमयम्**—प्रतिक्षण, **अनुष्ठीयताम्**—अनुष्ठान करो-उसका सतत् चिन्तन करो ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ? निद्रा, तृष्णा, भूख, पीड़ा, थकावट, मरना, बुढ़ापा, जन्म, भय और काम आदिक जितने विकार वा दोष हैं वे कर्मसे हैं-उनकी उत्पत्तिमें मूल कारण कर्म है तथा कर्मोंके नाशसे उनका नाश होता है। कर्मोंकी उत्पत्ति अविद्यासे होती है। और अविद्याको नाश करनेवाली अध्यात्म विद्या है जो स्वाधीन और सदा तेरे पास रहती है। इसलिये तू प्रमाद रहित होकर उसीका पूर्णरूपसे अभ्यास कर।

भावार्थ—वास्तविक सुख, अध्यात्म विद्याकी प्राप्तिसे ही होता है क्योंकि इससे अविद्याका नाश होता है अविद्याके नाशसे कर्मोंका नाश और कर्मोंके नाशसे निद्रा तृष्णा भूख प्यास आदिके जरा भी दुःख नहीं भोगने पड़ते तथा वह अध्यात्मविद्या स्वाधीन है उसमें इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं है और वह सदा तेरे पास रहती है। इसलिये हे आत्मन्! तू उसीका ध्यान कर ॥ ४६ ॥

अध्यात्मके ध्यानसे अंतरंग शान्ति प्राप्त होती है—

तावत्तापः क्षपयति बहिः क्लेशहेतुं शरीरं
शैत्यं तावज्जनयति बहिर्बाह्यसौख्यानुषंगं।
अंतस्तापप्रशमनपटु त्यक्तजाड्यानुबंधं
नांतःशैत्यं परिणमति ते यावदध्यात्मयोगात् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—अंतस्ताप प्रशमनपटु—अंतरंगके सन्तापको दूर करनेवाले, **व्यक्तजाड्यानुबंधम्**—जिसने अज्ञानभावको दूर कर दिया है ऐसे, **अन्तः शैत्यं**—अन्तरंग शीतलता, **अध्यात्म योगात्**—अध्यात्म विद्याके योगसे; **ते**—तुम्हारे, **यावत् न परिणमति**—जबतक उत्पन्न नहीं होती, **तावत्**—तभीतक ही, **बहिः तापः**—यह बाह्य सन्ताप, **क्लेशहेतुं शरीरं क्षपयति**—तेरे कष्ट-दायक शरीरको दुःख देता है तथा, **तावत्**—तभी तक, **शैत्यं**—ठंडी हवाएँ **वा** उसका स्पर्श, **बाह्यसौख्यानुषंगं-जनयति**—बाह्यमें सुखकारक प्रतीत होता है।

अर्थ—हे आत्मन्! बाह्य संतापके कारण तेरे शरीरको तभीतक ताप सता सकता है और तभीतक बाह्य शीत भी तेरे लिये बाह्य सुख उत्पन्न कर सकता है जबतक कि तेरी आत्मामें अध्यात्मविद्याके ध्यानसे अंतरंग संताप और जड़ताको नाश करनेवाली अंतरंग शांति प्रकट नहीं होती।

भावार्थ—जबतक आत्मामें निराकुलतामय सुख और अखंडज्ञान—केवल-ज्ञान उदित न होगा तब तक तू इस बाह्यक्लेशके कारण भी शरीरको अपना मान तापसे नितांत दुःख सहेगा। बाह्य शीतसे भी अपनेको सुखी मानेगा परंतु जिस समय अध्यात्मध्यानके बलसे तुझे अविनाशी अंतरंग सुख प्राप्त हो जायगा उससमय तेरा समस्त संताप और जड़ता सर्वदाके लिये एक ओर किनारा कर जायेंगे ॥ ४७ ॥

अध्यात्म विद्या ही विद्या है—

● अधिकमधिकृतं वाऽधिष्ठितं वा यदात्म-
न्यधिगमजनितं वा निस्तरंगांतरंगं।
निरवधि निरवद्यं वेदनं मुक्तिहेतुः
स्फुटघटितनिरुक्तिः सैवमध्यात्मविद्या ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—यत् वेदनम्—जो ज्ञान, **अधिकम्**—सबसे अधिक श्रेष्ठ हो, **अधिकृतम्**—अपनी आत्माके स्वाधीन हो, **स्वात्मनि अधिष्ठितं**—अपनी आत्मा में ही रहता हो, **अधिगम जनितं**—जिनागमसे उत्पन्न हो, **निस्त-रंगान्तरंगं**—विविध विकल्पोंसे रहित अन्तरंगमें पाया जाता हो, **निरवधि**—जिसका अन्त न हो, **निरवद्यम्**—निर्दोष हो, **मुक्ति हेतुः**—मुक्तिका कारण हो, **स्फुटघटितनिरुक्तिः**—जिसका इस प्रकार स्पष्ट रूपमें यहाँ निरूपण किया गया है, **सा एव अध्यात्म विद्या**—वही अध्यात्म विद्या है ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो ज्ञान आत्मामें समस्त ज्ञानोंकी अपेक्षा अधिक हो, अधिकृत—निजाधीन हो, अविष्ठा—आत्मस्वरूप हो, अधिगमसे उत्पन्न हुआ हो, निश्चल हो, अंतरंग हो, असीम, निर्दोष और मोक्षका कारण हो वही ज्ञान अध्यात्मविद्या है इसप्रकार अध्यात्मविद्याकी यह निरुक्ति बतलाई गई है।

भावार्थ—जो ज्ञान सब ज्ञानोंसे अधिक, निजाधीन, आत्मस्वरूप, अधिगमज, निश्चल, अंतरंग, असीम, निर्दोष और मोक्षका कारण हो उसे अध्यात्मज्ञान समझना चाहिये और उससे भिन्न सब अविद्या हैं ॥ ४८ ॥

ध्यान और स्वाध्याय ये दोनों अध्यात्म विद्याकी प्राप्तिके साधन हैं—

स्वाध्यायध्यानभेवाद्द्विविधविधि तदध्यात्ममाहुर्मुनींद्राः
स्वस्मिन् स्वस्य स्वकं वाध्ययनमिति भवत्यात्मसंबद्धमाद्यं ।
अक्षक्षेपोज्झितांतःकरणपरिणमध्येयनिर्ध्याननिष्ठं
ध्यानं ध्यातुः स्वचित्तेऽचिररचितफलं मोहसंदोहमुक्तं ॥४९॥

अन्वयार्थ—**मुनींद्राः**—श्रेष्ठ मुनियोंने, **तदध्यात्मम्**—उस अध्यात्म विद्याको, **स्वाध्याय-ध्यान भेदात्**—स्वाध्याय और ध्यान—इस प्रकार भेदसे, **द्विविध विधि**—दो प्रकारका बतलाया है। इनमें, **आद्यं**—प्रथम भेद, **स्वस्मिन् स्वस्य स्वकं वा**—अपनेमें, अपना या अपनेका, **अध्ययनम्**—अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। इस प्रकार, **आत्मसम्बद्धम्**—प्रथम भेद भी जो आत्मासे ही संबद्ध है, वही स्वाध्याय है। तथा, **अक्षक्षेप-उज्झित-अन्तःकरण-परिणम**—इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित अन्तःकरण (मन) का परिणमन रूप, **ध्येय-निर्ध्याननिष्ठम्**—ध्येय अर्थात् आत्म-स्वरूपके चिन्तनमें ही निष्ठ (लीन) होनेको, **ध्यानम्**—ध्यान नामक दूसरा भेद जानो।

वह ध्यान, **ध्यातुः स्वचित्ते**—ध्याताके स्वचित्तमें स्थित, **मोह-सन्दोह मुक्तम्**—समस्त मोहका नाशक है और शीघ्र ही अपना फल देने वाला है ॥ ४९ ॥

अर्थ—भगवान् जिनेंद्रने अध्यात्मविद्याके दो भेद बतलाये हैं—स्वाध्याय और ध्यान। अपनेमें अपनेका (सम्यग्ज्ञान आदिका) वा अपना चिंतवन करना ऐसे आत्मसंबंधी ज्ञानका नाम स्वाध्याय है और बहुत जल्दी उत्तम फल प्रदान करने वाला और मोहका नाशक जो इंद्रियोंके व्यापारसे रहित केवल मनसे ध्येय-आत्माके स्वरूपका चिंतवन करता है वह ध्यानरूप अध्यात्म विद्या है ॥ ४९ ॥

धर्म और मोक्ष पुरुषार्थका कारण स्वाध्याय है—

स्वाध्यायः स्याद्द्वितयविधिना धर्ममोक्षागमेषु
प्रौढाभ्यासो वितरति स च स्वर्गलोकापवर्गौ ।
अस्वाध्यायो भवति स पुनर्योऽर्थकामश्रुतीनां ।
तस्यावद्यं फलमिति सदा कुर्युराद्यं यतीशाः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—**स्वाध्यायः द्वितयविधिना स्यात्**—स्वाध्याय दो प्रकारका है। स्वाध्याय और अस्वाध्याय।

धर्म-मोक्ष-आगमेषु—धर्म और मोक्ष पुरुषार्थके प्रतिपादक आगमोंमें, **प्रौढाभ्यासः**—जो पुष्ट अभ्यास है वह, **स्वाध्यायः**—स्वाध्याय, **स्वर्गलोकापवर्गौ**—स्वर्ग और मोक्षका, **वितरति**—प्रदान करनेवाला है तथा, **अस्वाध्यायः**—अस्वाध्याय, **स पुनः अर्थ-काम-श्रुतीनां भवन्ति**—वह अर्थ (धनोपार्जन) काम, (भोगोपभोग) रूप शास्त्रोंका प्ररूपक है, **अस्य फलम् अवद्यं**—उसका फल पाप रूप ही है अतः, **यतीशाः सदा आद्यं कुर्युः**—यतिजनोंको प्रथम भेद-स्वाध्याय ही करना चाहिए, अस्वाध्याय नहीं ॥ ५० ॥

अर्थ—स्वाध्याय और अस्वाध्यायके भेदसे स्वाध्याय भी दो प्रकारका बतलाया है। उनमें धर्म वा मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले आगमोंका प्रौढ़रूपसे अभ्यास करने को स्वाध्याय कहते हैं एवं उससे स्वर्ग और मोक्ष सुखोंकी प्राप्ति होती है। अर्थशास्त्र वा काम शास्त्रोंका अभ्यास करना अस्वाध्याय है तथा अस्वाध्यायका फल कार्यकारी न होकर निंदित ही होता है ऐसा जानकर मुनिगण स्वाध्यायका ही आचरण करते हैं।

भावार्थ—धर्म वा मोक्षके स्वरूपको बतलानेवाले आगमोंका अभ्यास करना और अर्थशास्त्र वा कामशास्त्र जो कि आत्माको निज स्वरूपके ध्यानसे विचलित करनेवाले हैं उनका स्वाध्याय न करना तो स्वाध्याय है और धर्म वा मोक्षके स्वरूपक प्रतिपादन करनेवाले आगमोंका स्वाध्याय न कर अर्थशास्त्र वा कामशास्त्रका स्वाध्याय करना अस्वाध्याय है। इनमें स्वाध्याय तो कार्यकारी है क्योंकि उससे स्वर्ग-मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है और अस्वाध्यायसे कुछ भी फल नहीं होता। इसलिये आत्मकल्याणी मुनिगण स्वाध्यायका ही अवलंबन करते हैं ॥ ५० ॥

स्वाध्यायकी विधि और उसका फल—

मनोबोधाधानं विनयविनियुक्तं निजवपु-
र्वचःपाठायत्तं करणगणमाधाय नियतं ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यंतरमिदं ॥५१॥

अन्वयार्थ—जो आत्मा, **मनोबोधाधानं**—अपने चित्तको ज्ञानमें लगाकर, **निजवपुः**—अपने शरीरको, **विनय विनियुक्तम्**—विनयसे युक्त करके, **वचः पाठायत्तम्**—वचनको जिन सूत्रके पठन-पाठनमें लगाकर, **करणगण नियतं-आधाय**—सम्पूर्ण इन्द्रिय समूहको वशमें करके, **जैनवचने कृत परिणतिः**—जिनेन्द्रके वचनों पर श्रद्धाकरके, **स्वाध्यायं दधानः**—स्वाध्याय करते हैं, **स आत्मा**—वही आत्मा, **कर्मक्षयम् करोति इति**—कर्म-क्षय करके मुक्ति पाता है, **इदम् समाध्यन्तरम्**—यह भी एक प्रकारकी समाधि ही है ॥ ५१ ॥

अर्थ—भगवान् जिनेंद्रके वचनोंपर भलेप्रकार श्रद्धान करनेवाला जो मनुष्य अपने मनको ज्ञानकी ओर लगाकर शरीरको विनयी, वचनको जैन शास्त्रोंका पाठ करनेवाला और इंद्रियोंको नियन्त्रित बनाकर-वशकर स्वाध्याय करता है वह मनुष्य समस्त कर्मोंका नाश कर देता है यह भी एक प्रकारकी दूसरी समाधि है ।

भावार्थ—जबतक मन, वचन, काय और इंद्रियां वश न होंगे तब तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता और बिना स्वाध्यायके कर्मोंका नाश और स्वर्ग-मोक्षका सुख मिलना असंभव है । इसलिये जो मनुष्य स्वाध्यायप्रेमी हैं-स्वाध्यायको कार्यकारी समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे पहिले मनको ज्ञानकी ओर झुकावें, शरीरको विनयी, वचनोंको स्वाध्यायमें लीन और इंद्रियोंको वश करें पीछे स्वाध्याय करनेका प्रयत्न करें ॥५१॥

स्वाध्यायके लाभ—

गुप्तित्रयं भवति तस्य सुगुप्तमेव
शल्यत्रयीमुदखनच्च स बद्धमूलां ।
तस्य स्वयं समितयः समिताश्च पंच
यस्यागमे विधिवदध्ययनानुबंधः ॥५२॥

अन्वयार्थ—**यस्य आगमे**—जिसका जिनागममें बताई, **विधिवत्**—विधि के अनुसार, **अध्ययन-अनुबन्धः**—अभ्यासपूर्वक स्वाध्याय होता है उस साधुकी, **गुप्तित्रयम्**—तीनों गुप्तियाँ, **सुगुप्तम् एव**—सुरक्षित ही हैं, **सः**—वह साधु, **बद्धमूलां शल्यत्रयम्**—गहरी जड़ हैं जिनकी ऐसी तीनों शल्यों को, **उद्धखनन्**—उखाड़ फेंक देता है, **तस्य**—उसकी, **पञ्च समितयः**—पाँचों प्रकारकी समितियाँ, **स्वयं समिताश्च**—स्वयं सुरक्षित-एकत्रित रहती हैं ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो मुनि विधिपूर्वक आगमोंका अभ्यास करता है उसके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति-इन तीनों गुप्तियोंका भलेप्रकार पालन होता है। माया, मिथ्या और निदान तीनों शल्य मूलसे उखड़ जाते हैं और ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप एवं उत्सर्ग—इन पाँच प्रकारकी समितियोंका भी भले प्रकार पालन होता है।

भावार्थ—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन प्रकारकी गुप्तियाँ, माया, मिथ्या और निदान-इन तीनों शल्योंका नाश एवं ईर्या, भाषा एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग—ये पाँच समितियाँ मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधान कारण हैं। परन्तु जबतक स्वाध्यायका अवलंबन नहीं किया जाता तब तक कभी इन कारणोंकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे अवश्य स्वाध्याय करें ॥ ५२ ॥

विनयपूर्वक जैनागमके स्वाध्यायका फल—

जैनागमादितरमध्ययनं विहाय
श्रद्धापरः पठति यः शुचिभूमिदेशे ।
शास्त्रे गुरौ च विनयेन समाहितः सन्
तस्य श्रुतं गमयति श्रुतदेवतैव ॥५३॥

अन्वयार्थ—**यः**—जो प्राणी, **जैन-आगमात् इतरं अध्ययनं विहाय**—जैनागम से इतर अस्वाध्याय रूप अर्थ-कामादि प्ररूपक शास्त्रोंको छोड़कर, **श्रद्धापरः**—जिनागम पर श्रद्धा सहित, **शुचिभूमिदेशे**—पवित्र भूमिप्रदेशमें, **शास्त्रे गुरौ च विनयेन समाहितः सन्**—शास्त्र और गुरुजन (आचार्यों) की विनयसे युक्त जिनागम का, **पठति**—स्वाध्याय करता है, **तस्य**—उस प्राणी को, **श्रुतदेवता एव श्रुतम् गमयति**—श्रुतदेवता स्वयं शास्त्रमें पारंगत बनाते हैं अर्थात् स्वाध्यायके प्रभावसे वह स्वयं ज्ञानी बन जाता है।

अर्थ—जैनशास्त्रोंसे भिन्न अर्थ, काम आदि शास्त्रोंका अभ्यास न कर जो मनुष्य पवित्र स्थानपर बैठकर बड़ी श्रद्धासे जैनशास्त्रोंका अभ्यास करता है और शास्त्र एवं गुरुओंमें भी विनयभाव रखता है उसे साक्षात् सरस्वती देवी ही शास्त्र-ज्ञान प्रदान करती है—अर्थात् उसे शास्त्रोंकी श्रद्धा और गुरुभक्तिसे शास्त्रज्ञान होता है॥ ५३ ॥

स्वाध्यायके फलसे केवलज्ञानकी प्राप्ति—

पठति मनुते सर्वज्ञोक्तागमं बहु मन्यते
मधुरवचनैर्व्याचष्टे यः सभाप्रतिपादकैः ।
कतिपयभवैस्तस्योत्पन्ने समुज्वलकेवले
विलसति पटुर्दिव्या भाषा जगत्त्रयबोधिनी ॥५४॥

अन्वयार्थ—जो मुनिजन, **सर्वज्ञ-उक्तम् आगमम् मनुते बहु मन्यते**—जिनेन्द्र सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए आगमका श्रद्धान करता है, उसे बहुत मानता है, **पठति**—पढ़ता है तथा **यः**—जो, **सभाप्रतिपादकैः मधुरवचनैः**—सभामें मधुर वचनों द्वारा तत्त्वका प्रतिपादन करता है, **तस्य कतिपय भवैः**—उसको थोड़े ही भवोंमें, **समुज्वलकेवले उत्पन्ने**—केवलज्ञानके उत्पन्न होने पर, **जगत्त्रय बोधिनी**—तीन लोकोंके प्राणियोंके संबोधित करनेमें, **पटुः दिव्या-भाषा**—कुशल ऐसी दिव्यभाषा, **विलसति**—प्राप्त होती है-सुशोभित होती है अर्थात् वह साधु शीघ्र केवली होकर दिव्य-ध्वनि द्वारा लोकोपकारी उपदेश देता है ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो मुनि भगवान् सर्वज्ञद्वारा प्रतिपादित आगमोंको पढ़ता है, मनन करता है, बहुत मानता है—आदरकी दृष्टिसे देखता है और सभाके योग्य प्रिय वचनोंसे उनका व्याख्यान करता है उसे थोड़े ही दिनोंके बाद केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है और उससमय उसके तीनों लोकोंको प्रबोधने-वाली दिव्यभाषा-दिव्यध्वनि छूटने लगती है।

भावार्थ—शास्त्रोंका अभ्यास, मनन, बहुमान और श्रद्धापूर्वक व्याख्यान करनेसे आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञानसे कर्मोंका नाश और फिर थोड़े ही भवों के बाद केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तथा उससमय वह योगी अपनी दिव्य-ध्वनिसे जीवोंको धर्मका उपदेश देता है और उस उपदेशसे समस्त जीवोंको स्व और परका ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

स्वाध्यायशील साधुके सभी व्रत निर्मल होते हैं—

व्रतनियमितपस्तेनापूर्णं जिताश्च परीषहा-
विहितसकलो मुक्तारत्नावलीप्रमुखो विधिः ।
मदनदमनीमर्हन्मुद्रां वहन्मुनिरादरा–
न्नियमितमना यः स्वाध्यायं करोति मुहुर्मुहुः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—**मदन दमनीम् अर्हन्मुद्राम् वहन् मुनि**—कामदेव पर पूर्ण विजय कर, जिनेन्द्र मुद्रा—दिगम्बर मुद्राको धारण करने वाले मुनि, **आदरात्**—विनयपूर्वक, **नियमितमना**—शुद्धमनोयोग पूर्वक, **मुहुःमुहुः**—बार बार, **स्वाध्यायम् करोति**—जिनागमका स्वाध्याय करता है, **तेन**—उस साधु ने, **व्रत-नियम, तपः आपूर्णम्**—सभी व्रत-नियम और तप का आचरण पूर्ण कर लिया, **परीषहा च जिताः**—सभी परीषह जीत लीं, **मुक्तारत्नावली प्रमुखः विधिः**—मुक्तावली, रत्नावली आदि प्रमुख सभी तपों की सम्पूर्ण विधि को, **विहित सकलः**—सम्पूर्ण रीति पालन पर लिया ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो मुनि कामदेवको वश करनेवाली मुनिमुद्राको धारणकर और मनको निश्चलकर बार-बार स्वाध्याय करता है, समझ लेना चाहिये कि उसने व्रत, नियम और तपोंका पूर्ण आचरण कर लिया। परीषह भी जीत लीं और मुक्तावली रत्नावली[1] आदि विधियोंका भी भले प्रकार आचरण कर लिया।

भावार्थ—मुनिगण आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये व्रत, नियम, तप, परीषहोंका विजय और मुक्तावली, रत्नावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि उपवासोंका आचरण करते हैं परन्तु केवल स्वाध्यायसे ही उनके ये बातें सिद्ध हो जाती हैं अर्थात् स्वाध्यायके करनेसे परिणामोंमें निर्मलता बनी रहती है इसलिये स्वाध्याय ही परम व्रत है, स्वाध्याय ही परम नियम और तप है स्वाध्याय ही परीषहोंका जय है और स्वाध्याय ही मुक्तावली, रत्नावली आदि उपवास हैं—ऐसा बतलाया है ॥ ५५ ॥

---

१. मुक्तावली उपवासमें पच्चीस उपवास और नौ पारणा होती हैं तथा यह पौंतीस दिनमें समाप्त होता है। रत्नावली उपवासमें तीस उपवास और दश पारणा होती हैं। यह चालीस दिनमें समाप्त होता है। उपवासोंका विशेष वर्णन हरिवंशपुराणसे समझ लेना चाहिये।

स्वाध्यायसे ही मुनिव्रत सफल हैं—

वहतु नियमादाचेलक्यं चिरं चरतु-व्रतं
क्षपयतु वपुः कायक्लेशैरलं यमधरणैः ।
रचयति न चेन्नित्यं जैनश्रुताध्ययनं तदा
विफलमखिलं स्वाध्यायो यतो न यतिर्यतिः ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—**नियमात् आचेलक्यम्**—नियम से अचेलक-दिगम्बर मुद्राको, **वहतु**—धारण करो। **चिरं व्रतम् चरतु**—चिरकाल तक व्रत का आचरण करो, **यमधरणैः**—संयम धारण कर, **कायक्लेशैः वपुः अलं क्षपयतु**—कायक्लेश के द्वारा शरीर को क्षीण करो, परन्तु, **जैन श्रुताध्ययनम्**—जैनागम का स्वाध्याय, **नित्यं न चेत् रचयति**—यदि नित्य नहीं करता है तो, **तदा सकलम् विफलम्**—तब उक्त सब कार्य विफल हैं। **यतः स्वाध्यायः यतिः**—स्वाध्याय ही यति रूप है। उसके बिना, **न यतिः**—वह यति, यति नहीं है।

अर्थ—यदि प्रतिदिन जैन शास्त्रोंका अध्ययन न किया जायगा तो चाहे नग्नमुद्रा क्यों न धारली जाय, सदा व्रत भी क्यों न आचरण किये जांय, और जीवनपर्यन्त कायक्लेशोंको करनेवाले संयम धारणकर शरीर भी क्यों न सुखा दिया जाय-सब निष्फल जाते हैं। क्योंकि स्वाध्याय ही यति न होने पर भी यति अर्थात् परम यति है।

भावार्थ—नग्न मुद्राके धारण करनेसे व्रतोंके आचरण करनेसे और काय क्लेशोंसे, शरीर कृश करनेसे शांतिमय सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु बिना स्वाध्यायके नग्नमुद्रा आदिका धारण करना व्यर्थ है। इसलिये स्वाध्याय ही परम हितकारी है ॥ ५६ ॥

स्वाध्यायके साथ ध्यान भी आलंबन है—

इतश्च स्वाध्यायादहरहरविश्रांतविहितात्
परिश्रांतोऽत्यंतं यदि भवति विश्राम्यतु तदा ।
बहिर्जल्पं मुक्त्वा शमसलिलनिस्पंदशिशिरं
मुनिध्यानं धारागृहमिव सुखाय प्रविशतु ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—**इतश्च**—कुछ और भी कहते हैं—**स्वाध्यायात् अहः अहः अविश्रांत विहितात्**—प्रतिदिन अविश्रान्त रूपसे निरन्तर स्वाध्याय करनेसे, **यदि अत्यन्तम् परिश्रान्तः भवति**—यदि अत्यन्त थकावट मालूम हो, **तदा**

विश्राम्यतु—तब विश्राम लो, उससमय, **बहिर्जल्पं मुक्त्वा**--बहिर्जल्प-बोलना छोड़कर, **शमसलिलनिस्पंद शिशिरम्**--समभाव रूपी जलके झरने झरते हैं ऐसे, **धारागृहम् इव शिशिरम्**--जहां जलधारा पड़ रही है उस शीतल धारागृहके समान, **ध्यानं सुखाय**—ध्यान में सुखपूर्वक, **मुनिः**--मुनिराज, **प्रविशतु**--प्रवेश करे ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! प्रतिदिन अविश्रांतरूपसे आचरण किये हुये स्वाध्याय-से यदि किसी प्रकारको तुझे थकावट मालूम हो तो तू बाह्य जल्पको छोड़-कर अविकल सुखका अनुभव करनेकेलिये शांतिरूपी शीतल जलके नीझरनोंसे शीतल धारागृह (फुव्वारेके घर) के समान ध्यानमें प्रवेश कर ।

भावार्थ—धूप आदिसे थका हुआ मनुष्य जिसप्रकार शीतल जलके नी-झरनोंसे व्याप्त धारागृहमें प्रवेश करता है और शांतिसुखका अनुभव करता है उसीप्रकार हे आत्मन् ! यदि तू प्रतिदिन लगातार स्वाध्यायके करनेसे थक गया है—सामर्थ्यके न होनेमें स्वाध्याय नहीं कर सकता तो तुझे ध्यान करना चाहिये । क्योंकि ध्यान शांतिमयसुख प्रदान करनेवाला है ॥ ५७ ॥

समाधि रूपी जलसे आत्माकी निर्मलता--

कलायमलकश्मले विरसकायकुंडोदरे
विधेर्बलवतो वशात्पतितमात्मचिंतामणिं ।
समाध्यमलपावनांभसि विशोध्य गृह्णाति यः
स याति पदमुत्तरोत्तरमनाद्यनंतं श्रियः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ--**कषाय मल कल्मशे**--कषाय हो हुआ मल, उसके द्वारा जो अत्यन्त मलिन है ऐसे, **विरसकाय कुंडोदरे**—निःसार शरीर रूपी कुण्डमें, **बलवतः विधे वशात्**—बलवान् कर्मोदय की परवशतासे, **आत्मचिन्तामणिः**--आत्मा रूपी यह चिन्तामणि रत्न, **पतितम्**--गिर गया है उसे, **समाध्यमल-पावन-अंभसि**—समाधि रूपी निर्मल जलसे, **विशोध्य**—धोकर-शुद्ध करके, **यः गृह्णाति**—जो उसे प्राप्त करता है, **सः**—वह भव्य प्राणी, **उत्तरोत्तर पदम्**—निरन्तर उत्तमोत्तम पदोंके साथ-साथ, **अनादि-अनंतम् श्रियः याति**--अनादि-अनन्त मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ ५८ ॥

अर्थ—विधिकी बलवत्तासे यह आत्मारूपी चिंतामणि रत्न, कषायरूपी मलसे मलिन नीरस शरीररूपी कुंडमें गिर गया है परन्तु जो मनुष्य उस कुंडसे निकालकर और समाधिरूपी निर्मल पवित्र जलसे शुद्धकर

इसे ग्रहण करता है वह स्वर्ग आदिके सुख भोगकर मोक्षसुखको भोगता है।

भावार्थ—जिसप्रकार मलिन जलसे भरे कुंडसे गिरे हुये चिंतामणि रत्नको पाकर उसे शुद्ध जलसे शुद्धकर मनुष्य परम संतोष मानता है उसी-प्रकार कषायोंसे मलिन शरीरमें अनादि कालसे पड़े हुये इस आत्माको भी जो मनुष्य रामाधिबलसे शुद्धकर ग्रहण करता है उसे स्वर्ग आदिके सुखके साथ निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ५८ ॥

धर्म-शुक्लध्यान ही उपादेय हैं—

तदार्तं रौद्रं च स्वकपरिणतेर्धर्म्यमपरं
परं शुक्लं शुक्लोल्लसदविकलद्योतिरुदयं ।
चतुर्धैवं किंतु प्रथममिह हेयं समलमि-
त्युपादेयं प्राज्ञैरमलमितरध्यानयुगलं ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ—**स्वक परिणते**—आत्माकी ही परिणतिसे, **आर्त-रौद्रम्**—आर्तध्यान ,रौद्रध्यान तथा **अपरंधर्म्यं परं शुक्लम्**—उत्तम धर्मध्यान तथा परमोत्तम शुक्लध्यान, **एवंचतुर्धा**—इस प्रकार ये चार प्रकारके ध्यान हैं इनमेंसे, **शुक्लोल्लसदविकल-द्योतिःउदयं**—उज्जवल शुक्लध्यान सम्पूर्ण दिव्य-ज्योति वाला होनेसे उत्कृष्ट है किन्तु, **प्रथमम् इह समलम्**—आदि के युगल, **आर्त और रौद्रध्यान**—मलिन हैं अतः, **हेयम्**—छोड़ने योग्य हैं, **इतर ध्यान-युगलम्**—शेष ध्यान युगल अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान, **प्राज्ञैः**—बुद्धिमानों-को, **उपादेयं**—उपादेय है ॥ ५९ ॥

अर्थ—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे ध्यान के चार प्रकार हैं। उनमें आर्त तथा रौद्र तो छोड़ने योग्य हैं। क्योंकि ये मलिन हैं—आत्माको मलिन बनानेवाले हैं और धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान ग्रहण करने योग्य हैं क्योंकि ये निर्मल हैं इनके द्वारा आत्मा शुद्ध होता है। यथा धर्म्यध्यान आत्माकी परिणति स्वरूप है इसलिये अपर है और शुक्लध्यान अविकल अखंड तेजका धारक है इसलिये पर-अर्थात् उत्कृष्ट है ॥ ५९ ॥

कुगतिके कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान त्याज्य है—

हेतू तिर्यग्गतिनरकयोरार्तरौद्राभिधाने
ध्याने दूरादमलमतिभिर्योगिभिर्वर्जनीये ।

धर्मध्यानात्त्रिदिवपदवी मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीः
शुक्लध्यानात्तदुभयमनुष्ठेयमुच्चैःप्रतिष्ठं ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ--**आर्तरौद्राभिधाने**--आर्त, रौद्र नामक दोनों ध्यान, **तिर्यग्गति नरकयोः हेतू**--तिर्यञ्च और नरकगतिके कारण हैं, अतः, **अमलमतिभिः**--निर्दोष बुद्धि वाले लोगोंको, **ध्याने**--ये दोनों ध्यान, **दूरात् वर्जनीये**--दूरसे ही छोड़ देना चाहिए। किन्तु, **धर्मध्यानात्**--धर्मध्यानके फलसे, **त्रिदिव पदवी**--स्वर्गकी पदवी प्राप्त होती है तथा, **शुक्लध्यानात्**--शुक्लध्यानसे, **मुक्तिसाम्राज्य लक्ष्मीः**--मोक्ष साम्राज्य रूपी श्री प्राप्त होती है। अतः, **तदुभयम्**--ये दोनों ध्यानोंको, **उच्चैः प्रतिष्ठं**--मनमें उच्चस्थान देकर **अनुष्ठेयम्**--समाराधन करना चाहिए ॥ ६० ॥

अर्थ--आर्त और रौद्रध्यान तिर्यंच और नरकगतिके कारण हैं अर्थात् आर्त और रौद्रध्यानके धारक मनुष्योंको तिर्यंच और नारकी होना पड़ता है इसलिये जो योगी विद्वान् हैं--निर्मल बुद्धिके धारक हैं उन्हें इन दोनों ध्यानों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा धर्म्यध्यानसे स्वर्गसुख और शुक्ल-ध्यानसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये इन दोनों ध्यानोंको सर्वोत्तम मान इनका भले प्रकार आराधन करना चाहिये ॥ ६० ॥

आर्तध्यानका स्वरूप एवं उसका फल--

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगप्रभृत्यनेकार्तिसमुद्भवत्वात् ।
भवोद्भवार्तैरथ हेतुभावाद्यथार्थमेवार्तमिति प्रसिद्धं ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ--**अनिष्ट योग-प्रिय विप्रयोग प्रभृति**--जो इष्ट नहीं है ऐसे पदार्थोंका या प्राणियोंका संयोग होने पर अथवा अपने प्रियका वियोग होने पर-इस प्रकार, **अनेक आर्ति समुद्भवत्वात्**--अनेक प्रकारकी आर्ति-पीड़ाकारक होनेसे इसे आर्तध्यान कहते हैं। **अथ**--अथवा, **भव-उद्भव आर्तैः**--संसारमें पाये जाने वाले सभी दुखों का, **हेतु भावात्**--कारण होनेसे भी, **यथार्थम् एव आर्तम्**--यह यथार्थ नामधारी आर्तध्यान, **आर्तम् इति प्रसिद्धम्**--आर्त नामसे विख्यात है ॥ ६१ ॥

अर्थ--आर्तध्यान अनिष्टका वियोग आदि अनेक दुःखोंसे उत्पन्न होता है। और जितने संसारके दुःख हैं उनकी उत्पत्ति भी इसीसे होती है इसलिये वास्तवमें इसका नाम आर्त-पीड़ासे होनेवाला है।

भावार्थ—आर्तिका अर्थ पीड़ा है और जो ध्यान पीड़ासे हो वह आर्त-ध्यान है। यह आर्तध्यान दुष्ट स्त्री, दुष्ट पुत्र, सर्प, सिंह आदि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे और उत्तम स्त्री, उत्तम पुत्र, द्रव्य आदि पदार्थोंके वियोगसे होता है एवं इससे संसारके समस्त दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ६१ ॥

रौद्रध्यानका स्वरूप एवं उसका फल—

पुंसा यदुत्पत्तिनिमित्तभूता रोषादयो रौद्रतमाः कषायाः ।
रौद्रस्य दुःखस्य च रौरवादेर्यत्कारणं तत्किल रौद्रमाहुः ॥६२॥

अन्वयार्थ—**पुंसाम्**—प्राणियोंके, **यत् उत्पत्ति निमित्तभूता**—जिस रौद्र ध्यानकी उत्पत्तिके लिए कारणभूत, **रोषादयः**—क्रोधादिक, **रौद्रतमाः कषायाः**—भयंकरतम कषाय होती हैं इससे वह ध्यान रौद्रध्यान कहा जाता है अथवा, **यत्**—जो, **रौद्रस्य दुःखस्य रौरवादेः च**—भयंकर दुःखकारक रौरव आदि नरकोंमें जानेका, **कारणम्**—हेतु बनता है, **तत्किल रौद्रमाहुः**—इसलिए भी वह रौद्र ध्यान कहलाता है ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो ध्यान क्रोध मान आदि अतिशय रुद्र कषायोंका कारण हो और जिससे नरक आदिका दुःख भोगना पड़े उसका नाम रौद्रध्यान है—अर्थात् रौद्रध्यानसे कषायोंकी उत्पत्ति और नरक आदिके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ६२ ॥

आर्त और रौद्र दोनों ध्यान त्याज्य हैं—

भवाटवीपर्यटनैकहेतू तवार्तरौद्रे यदि हंतुमिच्छा ।
तदैतयोर्मुंच निमित्तभूतं कषायकल्माषितमात्मभावं ॥६३॥

अन्वयार्थ—**यदि**—यदि, **भव-अटवी-पर्यटन हेतू**—संसाररूपी गहन वनमें घुमानेके लिए कारणभूत, **आर्तं रौद्रे**—आर्त वा रौद्र ध्यानको, **हंतुम् तव इच्छा**—तुम्हें मिटानेकी इच्छा है, **तत् एतयोः निमित्तभूतम्**—तो इन दोनोंके कारणभूत, **कषाय कल्माषितम् आत्मभावम्**—कषायों द्वारा मलिनताको प्राप्त होने वाले अपने भावोंको, **मुंच**—छोड़ो ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! आर्त-रौद्र ये दोनों ध्यान संसाररूपी गहन अटवीमें भ्रमण करानेवाले हैं और इनकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण कषायसे मलिन आत्माके विभाव परिणाम हैं यदि तू इन दोनों ध्यानोंका नाश करना चाहता है तो आत्माके अतिशय मलिन कषायरूप परिणामोंका सर्वथा त्याग करदे ॥ ६३ ॥

कषाय युक्त ध्यान सन्मार्गमें बाधक है--

अहंकारः कारागृहमिह वृतिर्गाढ़ममता
महामोहो लौहः पदनिगडबंधोऽतिनिविडः ।
कषायाश्चत्वारो विषमपरुषा रक्षपुरुषाः
कया युक्त्या मुक्तिर्भवति परतंत्रस्य भवतः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ--**अहंकार**--मानकषाय, **कारागृहम्**--कैदखानेके समान है, **गाढ़ ममता**--पर पदार्थोंमें ममत्व भाव, **वृत्तिः**--उस कैदखानेकी रक्षा करने वाली मजबूत दीवारें अर्थात् परकोटा हैं, **महामोहः**--महान् मोहका परिणाम ही, **अतिनिविडः लौहः पद निगडबंधः**--अति कठोर पैरोंमें पड़ी हुई लौह बेड़ियां हैं, **चत्वारः कषायाः**--क्रोध-मान-माया-लोभ-ये चारों कषायें ही, **विषमपरुषा रक्ष पुरुषाः**--अत्यन्त कठोर परिणामी रखवाले सिपाही हैं, तब इस प्रकार कारावद्ध, **भवतः**--आपको, **परतन्त्रस्य**--जो परतन्त्रता है उससे, **कया युक्त्या मुक्तिः भवति**--किस उपायसे मुक्ति हो सकती है ? यह स्वयं विचारणीय है ।

अर्थ--हे आत्मन् ! तू सर्वथा परतंत्र है-दूसरोंके आधीन पड़ा हुआ है क्योंकि अहंकार तो तेरे लिये कैदखाना है । उसका परकोटा ममता है । अतिशय निविड और महामोह लौहकी बनी हुई बेड़ियां हैं । और कैदखाने के द्वार पर तेरी कड़े रूप में देखरेख करनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ--ये चार कषाय चार सिपाही हैं । तू ही बता तुझे मोक्षकी प्राप्ति हो तो कैसे हो ?

भावार्थ--हे आत्मन् ! सदा तेरे परिणाम अहंकार, ममता, मोह और क्रोध-मान-माया और लोभमय बने रहते हैं और इन परिणामोंके आधीन हो अनेक प्रकारके क्लेश भोगता हुआ तू इस संसारमें भ्रमण करता रहता है कभी तुझे सन्मार्गकी ओर ध्यान लगानेका अवसर ही नहीं मिलता । फिर बता तुझे मोक्ष मिले तो कहांसे मिले ? ॥ ६४ ॥

विषयरूपी विषका त्याग ही श्रेयस्कर है--

एतैःकेऽत्र न के हतास्तदपि हि त्वं विप्रलुब्धोऽसि किं
माधुर्येण च मार्दवेण च घनस्नेहेन रूपेण च ।
दुर्वारेंद्रियतर्पणार्पितमनास्तन्मात्मनाशं कृथा
मैतान् भुंक्ष्व सखे विमुंच विषयानंतविषान्मोदकान् ॥६५॥

अन्वयार्थ—केऽत्र एतैः न हताः—कौन प्राणी है जो इन पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे मारे नहीं गए ? **तदपि**—तो भी, **त्वं किं विप्रलुब्धो असि**—तुम क्यों इनके लोभी हो ? इन विषयों की, **माधुर्येण-मार्दवेन**—मिठास से तथा इनके मृदु स्पर्शसे, **घनस्नेहेन रूपेण**—चिकने सुन्दर रूपसे क्यों ठगाए जा रहे हो ? **दुर्वार-इन्द्रिय-तर्पण-अपितमनाः**—जिनका रोकना कठिन है ऐसे इन पाँचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करनेकी भी इच्छा करने वाले तुम, **आत्मनाशं मा कृथा**—इनके वश होकर अपना विनाश मत करो और, **मा एतान् भुंक्ष्व**-इनका भोग भी मत करो, **सखे**—हे मित्र। **अतविषान् मोदकान्**—जो मीठे होने पर भी विषमिश्रित हैं ऐसे लड्डुओं के समान, **विषयान्**—इन पंचेन्द्रिय विषयों को भी, **विमुंच**—छोड़ दो। क्योंकि ये प्रत्यक्ष सरस होने पर भी अन्तमें कष्ट दायक हैं। अतः इन विषयोंमें मत फँसो ॥ ६५ ॥

अर्थ—हे मित्र आत्मन् ! इन विषयोंसे संसारमें बहुतसे नष्ट हुये-ठगे गये हैं तब भी तू इनकी मधुरिमा, सरलता, स्नेह और सुन्दर रूपसे ठगा जाता है और रात दिन इंद्रियोंके तृप्त करनेमें लगा रहता है यह बड़ा आश्चर्य है ? अरे ! तू अपनी आत्माको नष्ट न होने दे और इन विषयोंका भोग न कर सर्वथा छोड़दे। क्योंकि ये विषय भीतर छिपे हुये विषसे युक्त मोदक हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार विषयुक्त लड्डू पहले खानेमें मधुर पश्चात् थोड़ी देर बाद प्राण ही लेकर छोड़ता है। उसीप्रकार ये विषय पहिले तो स्वादिष्ट लगते हैं परन्तु पीछे अचिंत्य दुःख देते हैं। इसलिये हे आत्मन् ! तू इन्हें मधुर, कोमल मान वा स्नेह करनेवाले और सुन्दर जान इनकी ओर ललायित मत हो। देख ! इनसे बहुतसे मनुष्य ठगे गये हैं और तू भी ठगा जायगा तथा विषयोंके सेवनसे तेरी आत्मा भी नष्ट-भ्रष्ट होगी इसलिये तू इनका सर्वथा सेवन करना छोड़ दे ॥ ६५ ॥

स्त्री संसर्ग विष लता के समान है—

एणीदृशोत्र विषमा विषवल्लरीस्त्वं
जानन्नपि त्यर्जसि किं न हितोद्यतस्ताः ।
व्यामोहमेव जनयंत्युपभुज्यमाना
प्राणान् हरंति विषये भवनातुरस्य ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—अत्र—इस संसार में, **एणीदृशः**—मृगी के समान चञ्चल नेत्र वाली ये स्त्रियां हो, **विषमा विष वल्लरी**—विषम विष की बेल हैं। इस

काम को, **जानन् अपि त्वं**—जानते हुये भी तुम, **हितोद्यतः**—अपने हित के लिए उद्यत होकर, **किं न ताः त्यजसि**—क्यों उनका संग नहीं छोड़ते ? **ताः**—वे तो, **उपयुज्यमानाः**—उपयोग की हुई, **मदनातुरस्य**—कामी पुरुष के, **प्राणान् हरन्ति**—ज्ञान-दर्शन स्वरूप भावप्राणों का तत्काल नाश करती हैं। देह भी क्षीण होता है।

अर्थ—आत्मन् ? तू तो अपना हित करना चाहता है इसलिये यह जानकर भी कि ये स्त्रियाँ महाविषम विषलताके समान हैं इन्हें छोड़ क्यों नहीं देता। देख ! विषयकालमें जिस समय इनके साथ संभोग किया जाता है उस समय ये काम पीड़ित मनुष्यको मूढ़ बना देती हैं और प्राणरहित कर देती हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार विषलता जीवको अचेतन और प्राण रहित कर देती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी जीवको मूढ़ और प्राणरहित करने वाली हैं इसलिये स्त्रियोंको विषलताके समान मानकर उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ६६ ॥

कामी पुरुषों के लिए स्त्री विचित्र ग्रह के समान है—

मेदो-मज्जवसास्थिरक्तपिशितस्नायुस्त्वगंत्रात्मिकां
जानंतोऽपि नवीनयौवनलसल्लावण्यरूपामिमां।
मन्वाना रमयंति तद्विरहिता सीदंति मानोद्धताः
आनम्यानुनयंति योषितमहो कोऽपि ग्रहः कामिनां ॥६७॥

अन्वयार्थ—**अहो**—अरे ! **योषितम् कामिनाम् कोऽपि ग्रहः**—स्त्रियाँ कामी पुरुषोंके लिए किसी विचित्र ग्रह-प्रेत के समान हैं, कारण यह है कि, **नवीनयौवन लसत्**—नई जवानी अवस्था युक्त, **लावण्य रूपाम् इयाम्**—इसकी सुन्दर रूपराशि, **मेदः मज्ज-वसा अस्थिर रक्त पिशित स्नायुः त्वक् अंत्रात्मिकाम्**—मेदा, मज्जा, चर्बी, हड्डी, खून, मांस, स्नायु, चमड़ी, आँत आदि की बनी हुई एक मूर्ति मात्र है, **इति जानन्तः अपि**—इसे भली भाँति जानते हुए भी उसे, **मन्वाना**—रमणीय मानकर, **रमयन्ति**—उसमें रमण करते हैं, **तद् विरहिता**—और उसके वियोग में, **सीदन्ति**—दुखी होते हैं, **मानोद्धताः**—यदि कदाचित् वह मानकर विमुखता बताती है तो, **आनम्य अनुनयन्ति**—स्वयं नम्र होकर उसे विविध प्रकार से मनाते हैं। जिस प्रकार प्रेत से ग्रसित व्यक्ति विविध चेष्टायें करता है, उसी तरह वह कामी भी विविध चेष्टाएं करता है ॥ ६७ ॥

अर्थ—कामी पुरुष यह जानकर भी कि स्त्री मेदा, मज्जा, वसा, हड्डी, रक्त, मांस, स्नायु, चर्म और आंत स्वरूप है उसे नवीन यौवनसे देदीप्यमान लावण्यस्वरूप मानते हैं उसके साथ मनमाना विषयभोग करते हैं और रूठ जानेपर मानसे उद्धत होनेपर भी अतिशय नम्र हो उसकी अनुनय-चापलूसी भी करते हैं तथा उसके विरहमें कातर हो निकलते हैं इसलिये जान पड़ता है कामी पुरुषोंके लिये स्त्री एक विचित्र ग्रह है।

भावार्थ—जिस प्रकार ग्रह वा पिशाचके चक्रमें पड़कर मनुष्य अंडबंड काम करने लग जाता है और उसे करने, न करनेका कुछ भी होश नहीं रहता, उसी प्रकार स्त्रीके चक्रमें पड़कर भी मनुष्य जान बूझकर पागल हो जाता है। वह यह जानकर भी कि स्त्री मेदा, मज्जा, रक्त, मांस आदि अपवित्र धातुओंसे बनी हुई है उसे लावण्य स्वरूप मानता है और उसके साथ रमण क्रीड़ा करता है। उसके विरहमें कातर हो पागल हो जाता है और क्रुद्ध हो जानेपर बड़ी नम्रता से चापलूसी करता है।

रागी व्यक्ति स्त्रियोंके कृत्रिम सौन्दर्य पर मुग्ध रहता है—

कांतिव्यंजनमंजनं नयनयोर्बिम्बाधरे रंगकृ—
त्तांबूलं मृगनाभिपत्रलतिकागण्डस्थलीमंडनं ।
गात्रे कुंकुमलंभिते लवणिमेत्याहार्यमेणीदृशां
सौंदर्यं न तथेति पश्यति जनो रागेण पश्यन्नपि ।। ६८ ।।

अन्वयार्थ—स्त्री, **कान्ति व्यंजनम्**—शरीरमें कान्तिकी बनावट उबटन द्वारा, **नयनयोः अञ्जनम्**—आँखोंमें आंजन लगाकर शोभा द्वारा प्रदर्शित करती है, **बिम्बाधरे रंगकृत् ताम्बूलम्**—ओठोंको पान खाकर रंगती हैं, **मृगनाभिपत्र लतिका गंडस्थली मण्डनम्**—कस्तूरी आदि पदार्थोंसे कपोलों पर रचना करती है, **गात्रे कुंकुम लंभिते**—शरीर पर केशर कुंकुम लगाकर, **लवणिमा**—अपने लावण्यका प्रदर्शन करती है, **इति**—इस प्रकारसे, **एणीदृशाम्**—इन महिलाओं-का, **सौन्दर्यम्**—सुन्दरता कृत्रिम बनावटी है। स्वयं सुन्दरताको दूसरे पदार्थोंसे सजानेकी आवश्यकता नहीं होती। तथापि, **जनः**—रागी पुरुष, **रागेण**—अपने रागभावके कारण, **पश्यन्नपि**—सब कुछ देखता हुआ भी, **न तथा पश्यति**—वैसा नहीं देखता। यह आश्चर्य है ? ।। ६८ ।।

अर्थ—स्त्री, अपने शरीरमें तो उबटन आदिसे कांति उत्पन्न करती है। नेत्रोंमें काजल लगाकर तथा पान चबाकर ओठोंको सुहावना बनाती है।

कपोलोंपर कस्तूरीसे चित्र रचना करती है और शरीरको केसर लगाकर सुंदर लावण्यमय बनाती है। इसप्रकार स्त्रीका जितना सौंदर्य है वह सब कृत्रिम है और यह मनुष्य भी इस बात को भले प्रकार जानता है परंतु यह ऐसे गाढ़ रूपसे रागके जालमें फँसा हुआ है कि उस सौंदर्यको कृत्रिम न मानकर स्वाभाविक मानता है।

भावार्थ—यदि स्त्रियोंमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो उनके जालमें फंसना और उनपर अनुराग करना उचित होता, सो तो है नहीं, वे उबटन, काजल, पान आदि पदार्थोंसे अपना सौंदर्य बनाती हैं क्योंकि यदि उनमें स्वाभाविक सौंदर्य होता तो काजल, पान आदि पदार्थोंका अवलंबन वे क्यों करतीं? परंतु यह जीव इतना रागांध है कि सब कुछ जानकर भी पागल हो जाता है और स्त्रियोंसे अपनी लालसा नहीं हटाता ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण रूपसौन्दर्य क्षणभंगुर है—

रूपं संध्याभ्ररूपं लवणिमविभवोऽभोधिकल्लोललोलः,
शैलोत्संगापगेव स्वयमसकृदधःपातिनी यौवनश्रीः।
सौभाग्यश्रीः समीराहतकुसुमरजोराजिवद्भंगुरेति,
व्यालोलालंबनत्वादरतिरिव रतिर्मुच्यतां चंचलैषा ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—**रूपम्**—स्त्री का रूप सौन्दर्य, **संध्याभ्ररूपम्**—संध्याकालके बादलोंके समान परिवर्तनशील है, **लवणिम् विभवः**—लावण्य वैभव, **अम्भोधि कल्लोललोलः**—समुद्र की लहरों के समान चञ्चल है। **यौवनश्रीः**—युवावस्था-जन्य शोभा, **स्वयम्**—स्वभावतः, **असकृत शैल उत्संग आपगा इव**—पर्वत से नीचे सतत गिरनेवाली नदीके समान, **अधः पातिनी**—क्रमशः विनाशको प्राप्त होती है, **सौभाग्यश्री**—सौभाग्य रूपी लक्ष्मी, **समीराहत कुसुमरजः राजिवत्**—पवन द्वारा उड़ा दिये गये पुष्प की रज के समान, **भंगुरा इति**—अस्थिर है। इस तरह सारी शोभा, **व्यालोल आलंबनत्वात्**—चंचलताके आश्रय में है अतः, **एषा चञ्चला**—चञ्चल शोभा के प्रति, **अरतिः इव रतिः मुच्यताम्**—द्वेष और राग अर्थात् प्रीति और अप्रीति दोनों छोड़ देना चाहिए।

सारांश यह है कि शरीर की घृणास्पद स्थिति से द्वेष और उसकी शोभा देखकर प्रीति भी नहीं करना चाहिये ॥ ६९ ॥

अर्थ—स्त्रीका रूप तो संध्याकालीन बादलोंके समान चंचल है। लावण्य, समुद्रकी तरंगोंके समान देखते-देखते नाश होनेवाला है। यौवनकी शोभा,

पर्वतकी नदीके समान प्रतिसमय नीचे गिरनेवाली है। और सौभाग्य पवनसे प्रेरित पुष्पकी रजके समान क्षणभंगुर है इस प्रकार उसकी रूप आदि समस्त बातोंको चंचल जानकर द्वेषके समान उसमें राग भी न करना चाहिये—उससे सर्वथा प्रेम हटा देना चाहिये।

भावार्थ—स्त्रियोंके मनोहर रूप आदि देखकर उनमें अरति—द्वेष नहीं होता किन्तु राग परिणाम हो जाते हैं परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार सांझके समय बादल रंग-बिरंगे दीखते हैं और देखते देखते नष्ट हो जाते हैं वैसा तो इसका रूप है। समुद्रकी तरंगें टकराकर जल्दी नष्ट हो जाती हैं वैसा इसका लावण्य है। पर्वतकी नदी जिसप्रकार प्रति समय नीचे गिरती है वैसा इसका यौवन भी दिनोंदिन ढलता रहता है। और जिस प्रकार पवनसे प्रेरित पुष्पकी रेणु देखते-देखते लापता हो जाती हैं उसी प्रकार इसका सौभाग्य भी क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है। इसलिये इसके रूप आदिको सर्वथा क्षण-भंगुर मान कदापि इसमें प्रेम न करना चाहिये॥ ६९॥

संसार की सम्पूर्ण सामग्री इन्द्रजालवत् है—

आयुर्वायुहतार्कतूलतरलं संपच्चला
छायाक्रीड़नयंत्रपुत्रकनिभः पुत्रादिमेलापकः
संसारस्थितिरिंद्रजालिककलाकल्पेति संकल्प्यतां
चित्ते वास्तवतामवास्तवतमेष्वेतेषु मा त्वं कृथाः ॥७०॥

अन्वयार्थ—**आयुः**—जीवन, **वायु हत अर्क तूल तरलम्**—वायु के झकोरों से आहत, आक की रुई के समान चपल है, **संपत् शंपा इव चला**—संपत्ति बिजली के समान चञ्चल है, **पुत्रादि मेलापकः**—पुत्र आदि परिवार का संयोग भी, **छाया क्रीड़नयन्त्र पुत्रक निभः**—यन्त्र द्वारा प्राप्त छाया में दिखाई देने वाले पुत्र के समान है, **संसारस्थितिः**—संसार भी, **इन्द्रजालिक कला-कल्प**—इन्द्रजाल की कला दृष्टिमात्र में आने वाली वस्तु है **इति संकल्प्यताम्**—यह समझना चाहिए। **अवास्तवतमेषु एतेषु**—ये वास्तव में कुछ नहीं है इनमें, **वास्तवताम् त्वं मा कृथाः**—तुम वास्तविकता मत समझो॥ ७०॥

अर्थ—हे आत्मन्! मनुष्योंकी आयु तो पवनसे प्रेरित आककी रुईके समान चंचल समझ लेनी चाहिये। सम्पत्ति बिजलीके समान क्षणभंगुर, पुत्र आदिका मिलाप चित्रके खिलौनेके समान और संसारकी स्थिति इन्द्रजालकी

रचनाके समान जानना चाहिये तथा आयु आदिके अन्दर जो तेरा यह श्रद्धान बैठा है कि ये वास्तविक—सत्य हैं वह श्रद्धान भी दूर कर देना चाहिये।

भावार्थ—मूढ़ मनुष्य आयु और सम्पत्ति आदि पदार्थोंको सच्चे और नित्य मानते हैं परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि आयु देखते-देखते आककी रुईके समान क्षणभंगुर नष्ट हो जाती है। सम्पत्ति बिजलीके समान क्षणभंगुर है। पुत्र आदिका सम्बन्ध तस्वीरकी पुतली आदि खिलौनेके समान अकार्यकारी हैं और इन्द्रजालमें जैसे नवीन नवीन पदार्थ दीख पड़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार यह संसारकी स्थिति है अर्थात् कभी इसमें देव-पर्याय तो कभी मनुष्य पर्याय धारण की जाती है और वह नष्ट हो जाती है। इसलिये हे आत्मन्! तुझे आयु आदि पदार्थ नित्य वा वास्तविक कभी न समझने चाहिये ॥ ७० ॥

स्वर्ण की तृष्णा मृगमरीचिका सदृश है—

कनकमृगतृषार्तो विद्विषन्नीतसीता-
विरहकृतमयासील्लाघवं राघवोऽपि
कनकमृगतृषार्तिं मुंच नो चेत्तवापि
ध्रुवमविकलबुद्धया सीतया स्याद्वियोगः ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ—**राघवः अपि**—श्री रामचन्द्र जैसे उत्तम पुरुष भी, **कनक-मृग तृषा आर्तः**—सोने के मृग प्राप्त करने के लोभ से पीड़ित, **विद्विषन्-नीत सीता**—विरोधी विद्वेषी रावण द्वारा हरी गई सीता के, **विरहकृतम् लाघवम्**—विरहकृत लघुता को, **आसीत्**—प्राप्त हुये। इसी प्रकार तुम भी **कनकमृग तृषार्ति मुञ्च**—सुवर्णादि की तृषा को छोड़ो, **नो चेत्**—यदि इस तृष्णा को न छोड़ोगे तो, **तव अपि**—तुम्हारे भी, **अविकल बुद्धया सीतया**—सद् बुद्धि रूपी सीता का, **ध्रुवम् वियोगः स्याद्**—निश्चित वियोग होगा। अर्थात् इस धनादि की तृष्णा से बुद्धि हरी जायेगी ॥ ७१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्? जिस समय रावणने सुवर्णमयी मृगके रूपधारी मारीचके द्वारा सीताका हरण कराया था उस समय सुवर्णमय मृगकी तृष्णासे प्रेरित रामचन्द्रको जैसा सीताके वियोगसे अधिक सन्ताप हुआ था उसी प्रकार यदि तू भी सुवर्णकी तृष्णा करेगा तो तेरे भी शांतस्वरूप निराकुलता-मय बुद्धिका वियोग हो जायगा और तुझे भी उसके वियोगसे सन्ताप सहना पड़ेगा। इसलिये तू सुवर्णकी तृष्णाको छोड़ दे।

भावार्थ—यह कथा लोक प्रसिद्ध है कि जिस समय रावणने सीताका हरण कराया था उस समय जब सुवर्णमृगवन में रामचन्द्र और सीता बैठे थे वहाँ रावणकी आज्ञानुसार मारीच आया और ज्योंही सीताने उसे देखा वह उसपर मुग्ध हो गई और उसे लानेके लिये रामचन्द्रसे आग्रह किया। यद्यपि रामचन्द्र इस बातको जानते थे कि सुवर्णका मृग होना असम्भव है तथापि सीताके आग्रहसे वे उसे पकड़ने चल दिये। वह मृग मायामयी था इसलिये बड़े झपाटेसे दूर तक निकल गया। राम भी बराबर उसका पीछा करते गये और इधर सीताको हरणकर रावण चलता बना। जब रामने पीछे आकर देखा तो सीताको न पाया और उसके वियोगमें उन्हें अति सन्ताप हुआ। इसलिए हे आत्मन्! रामचन्द्रके समान यदि तू भी सुवर्णका लोलुपी बनेगा—उसे अपनाना चाहेगा तो याद रख तुझे भी शान्ति प्रदान करनेवाले निराकुलतामय ज्ञानसे जुदा होना पड़ेगा और अचिन्त्य कष्ट भोगना होगा। इसलिये तुझे सुवर्णकी लालसा सर्वथा छोड़ देनी चाहिये ॥ ७१ ॥

पंचेन्द्रियों की तृष्णा के दुःखदायी होने का उदाहरण—

या पंचेंद्रियभर्तृदर्शितरतिर्यापार्थसंतोषिणी
या विस्फूर्जति नित्यनूतनसती कामानलज्वालिता।
या गोत्रक्षयकारिकारितकलिः कृष्णेव तृष्णा भृशं
श्रेयः संगमकारिणी कथमहो तस्याः प्रवृत्तिर्भवेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—प्रस्तुत छन्दमें तृष्णाको अन्यमतमें मानी जाने वाली द्रौपदीसे तुलना की है। अन्यमतमें द्रौपदीको पार्थ—अर्जुनकी पत्नी मानते हुये भी पंच भरतारी कहते हैं। महाभारतके युद्धका कारण उसे माना जाता है। इसी प्रकार, **तृष्णा कृष्णा इव**—यह तृष्णा द्रौपदीके समान है, **पंचेन्द्रियं भर्तृदर्शितरतिः** पंचेन्द्रिय रूपी भरतारोंसे प्रीति करती है, **याऽपार्थ संतोषिणि**—जो निंद्य अयोग्य कार्योंमें ही संतुष्ट होती है, **कामानल ज्वालिता**—कामरूपी अग्निसे प्रज्ज्वलित होने पर भी, **नित्यनूतन सती**—नित्य नई बनी रहती है, **तथा**—विस्फूर्जति और कभी संतुष्ट नहीं होती, फैलती रहती है, **भृशं**—बार बार, **या गोत्रक्षयकारि**—और जो वंशका नाश करनेवाली है, **कारित कलिः**—वंशमें कलह कराने वाली है, **अहो**—अरे, इस स्थितीमें वह तृष्णा, **कथं श्रेयः संगम कारिणी**—कैसे मोक्ष पथमें कल्याणकारिणी, **तस्याः प्रवृत्तिः भवेत्**—उसकी प्रवृत्ति होगी ?॥ ७२ ॥

अर्थ—संसारमें जो तृष्णा मालूम पड़ती है वह साक्षात् द्रौपदीके समान है। क्योंकि द्रौपदी जैसी—(पंचेन्द्रियभर्तृदर्शितरतिः) पाँचों इन्द्रियोंके समान युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—पाँचों पतियोंमें प्रेम दिखानेवाली थी उसी प्रकार यह तृष्णा भी पाँचों इन्द्रियोंको तृप्त करने वाली है। द्रौपदी जैसी (पार्थसंतोषिणी) अर्जुनको सन्तुष्ट करने वाली थी उसी प्रकार यह भी अपार्थ–निन्दित पदार्थोंमें सन्तोष करानेवाली है। द्रौपदी जिसप्रकार (कामानलज्वालिता नित्यनूतनसती) परम कामिनी होनेपर भी सदा नूतन सती बनी रहती थी उसी प्रकार यह भी कामानलको दीप्त करने वाली और सदा नवीन नवीन हुआ करती है। द्रौपदी जैसी (गोत्रक्षयकारिकारितकलिः) वंशविध्वंस करनेवाली, कलह मचाने वाली थी। उसी प्रकार तृष्णा भी वंशको नष्ट करने वाली कलह उत्पन्न करती रहती है—तृष्णा करनेवाले मनुष्यको सदा दूसरोंसे झगड़ा और कलह करनी पड़ती है इसलिये ऐसी तृष्णा करनेसे मोक्षका कैसे समागम मिले ?

भावार्थ—अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि द्रौपदी पाँचों पांडवोंकी स्त्री थी। स्नेह उसका पाँचोंपर था परन्तु अर्जुनको वह विशेष चाहती थी। अधिक कामिनी होनेपर भी सती कहलाती थी और उसीने गोत्रका क्षय करनेवाली महाभारतकी कलह मचाई थी। ठीक ऐसी ही तृष्णा है क्योंकि इससे पाँचों इन्द्रियोंका पोषण होता है। यह दुष्कर्मोंकी ओर झुकानेवाली है। प्रतिदिन नूतन नूतन होनेवाली और जीवोंको कामानलसे दीप्त करनेवाली है। इसी तृष्णाके माहात्म्यसे गोत्रमें दिन-रात कलह मची रहती है, इसलिये इस तृष्णासे कभी मोक्ष सुख नहीं मिल सकता ॥ ७२ ॥

शरीर तो समाधि का साधन है अतः इसे क्रोध से बचाना है—

त्वं रत्नत्रयधाम धाम भवतः कायोयमत्र स्थितः
साधीयः किल साधयिष्यसि पदं सम्यक् समाधानतः ।
तत्संशोषितसप्तधातुनिचयतद्भ्रुभंगभीमेक्षणा–
न्मैनं नाशय रक्ष रक्ष विषमक्रोधाद्धरक्षः पतेः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—**त्वं**—तुम, **रत्नत्रयधाम**—रत्नत्रयके स्थान हो, **अयम् कायः भवतःधाम**—और यह शरीर इस समय तेरा स्थान है अतः, **अत्र स्थितः किल साधीयः**—अतएव यहाँ स्थित शरीरको रक्षा करो। कारण यह शरीर ही, **समाधानतः**—उत्तम समाधिका साधन बनकर, **सम्यक् पदं साधयिष्यति**—

उत्तमपद मोक्षका साधन होगा। अतः, **एनम्**—इस शरीरको, **मा नाशय**—नष्ट मत करो। किन्तु, **तत् संशोषितसप्त धातु निचयात्**—शरीरको सप्तधातुओंको सुखाने वाले, **भ्रूभंग भीमेक्षणात्**—भृकुटीको चढ़ाकर देखने वाले ऐसे, **विषम क्रोधाख्य रक्षः पतेः**—भयंकर क्रोध रूपी राक्षसपति से, **रक्ष रक्ष**—अपना बचाव करो-अपनी रक्षा करो॥ ७३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रयका घर है और तेरा घर इस समय यह शरीर है। समाधिबलसे यदि तू इस शरीरसे उत्तमपद मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो तू इस शरीरको क्रोधरूपी राक्षसके फंदेमें न फसने दे। बड़ी सावधानीसे इसकी उससे रक्षाकर क्योंकि वह राक्षस हड्डी, मांस, चर्म आदि सात धातुओंके पिंडस्वरूप इस शरीरको सुखाने वाला है और जिस समय इसका प्रकोप होता है उस समय भृकुटियोंकी कुटिलतासे नेत्र महा भयंकर हो जाते हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार राक्षस शरीरको भक्षण कर जाता है और उसकी भृकुटी चढ़ी रहती है इसलिये नेत्र महाभयंकर मालूम पड़ते हैं उसी प्रकार यह क्रोध भी धीरे-धीरे कृश करता हुआ शरीरको भक्षण कर जाता है और इसके प्रकोपसे भृकुटी चढ़ी रहती है इसलिये नेत्र महाभयंकर हो जाते हैं। हे आत्मन्! तू स्वयं रत्नत्रयका घर होनेपर भी इस समय तेरा घर शरीर है और इससे तुझे सबसे बड़ा कार्य मोक्ष सिद्ध करना है इसलिये इस क्रोधरूपी राक्षससे इस शरीरकी रक्षाकर—व्यर्थ नष्ट न होने दे॥ ७३॥

क्रोधरूपी अग्निको प्रशमभाव रूपी जल से बुझाओ—

यदुपरि भवदीयः क्रोधवह्निः प्रदीप्त—
स्तमिह वहतु मा वा त्वां दहत्येव तावत्
अरणिमिव हुताशःस्वाश्रयाशस्तथासौ
प्रशमघनजलौघैर्हंत हंतव्य एव॥ ७४॥

अन्वयार्थ—**यत् उपरि भवतः क्रोधः वह्निः प्रदीप्तः**—जिस व्यक्ति पर भी तुम्हारी क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हुई वह, **इह तं वहतु मा वा**—उसको जलाये या न जलाये, **त्वां तावत् दहति एव**—पर तुमको जलायेगी ही।

अरणिम् इव हुताशः—बांसोंसे उत्पन्न आग जैसे बांसोंको जलाती है। इसी प्रकार, **तथाऽसौ स्वाश्रयाशः**—तथा इस प्रकार उत्पन्न हुई अग्नि अपने आश्रयको ही जला देगी। इसलिये इस क्रोध-अग्निको—**प्रशमघन जलौघैः**—

प्रशमभाव रूप घनके जल समुदायसे, **हन्त**—अरे ! **हन्तव्य एव**—बुझा ही देना चाहिए ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस मनुष्यपर तेरी क्रोधाग्नि प्रदीप्त हुई है वह जले या न जले तू तो पहिले जल ही जाता है क्योंकि यह क्रोधाग्नि अपने आश्रय-को भी नष्ट करनेवाली बांससे उत्पन्न अग्निके समान है इसलिये शांति रूपी मेघके जलसे इसका सर्वथा नाश करदेना चाहिये—कदापि क्रोधमय परिणाम न करने चाहिये।

भावार्थ—जिसप्रकार दो बांसोंके परस्पर घिसनेसे उत्पन्न हुई अग्नि प्रथम तो अपने आधार बांसोंको जलाकर खाक कर देती है पश्चात् समस्त वनको भस्म कर डालती है अथवा वन भस्म हो या न हो अपने आधारको तो अवश्य खाक करदेती है उसीप्रकार क्रोधरूप अग्नि भी प्रथम तो आत्माको जला देती है—उसे स्वरूपसे विचलित कर देती है और पीछे दूसरे जीवोंको नष्ट करती है—उनके परिणामोंको खलबला देती है अथवा क्रोधसे दूसरेका अहित हो या न हो अपना तो अवश्य अहित होजाता है। इसलिये जिसप्रकार मेघके जलसे वनाग्नि नष्ट कर दी जाती है उसीप्रकार समतासे क्रोधका भी नाश कर देना चाहिये ॥ ७४ ॥

विनय ही आठ मदोंको दूर करनेका उपाय है—

स्पष्टाष्टदर्शितमदं विनयांकुशेन
मानद्विपं नियमय त्वमखंडितेन
आरोहको भवसि येन सुभद्रजातेः
सद्बोधसिंधुरपतेः शुभलक्षणस्य ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—**स्पष्ट अष्ट दर्शित मदम्**—जो स्पष्ट रूपसे अपने आठ मदोंका प्रदर्शन कर रहा है उस, **मानद्विपम्**—मानरूपी हाथीको, **त्वम्**—तुम, **अखंडि-तेन विनयांकुशेन**—पूर्ण विनय रूपी अंकुशसे **नियमय**—अपने वश करो, **येन**—जिसके कारण, **सुभद्र जातेः सद्बोध सिंधुरपतेः शुभलक्षणस्य**—उत्तम-लक्षणयुक्त सम्यग्ज्ञान रूपी श्रेष्ठ हाथी पर, **आरोहकः भवसि**—आरोहण करनेवाले बनो !

अर्थ—हे आत्मन् ! ज्ञान पूजा आदि आठ मदोंको स्पष्ट रूपसे धारण करनेवाले मानरूपी हाथीको तू अखंडित विनयरूपी अंकुशसे वशकर जिससे तू अनेक शुभलक्षणोंके धारक अतिशय उत्तम सम्यग्ज्ञानरूपी ऐरावतपर सवार हो सके।

भावार्थ—जिसप्रकार मदसे मत्त सामान्य हाथीको अंकुशसे वशकर महावत उत्तम हाथीपर चढ़नेके योग्य होता है उसीप्रकार हे आत्मन् ! जिस-समय तू--मैं ज्ञानी हूँ, बलवान हूँ--इत्यादि मदोंके करानेवाले अभिमानको छोड़ देगा उससमय तुझे अखंडज्ञान-सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होगी। मानको दूर किये बिना सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥

रूपादिका अभिमान आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें बाधक--

अहं सुरूपः सुभगो युवाहं, शूरोहमाढ्योऽहमहं विपश्चित्
अहं स इत्यावहतो विकल्पान् न कल्प्यते हंस पदोदयस्ते ॥७६॥

अन्वयार्थ--हे आत्मन् ! **अहम् सुरूपः सुभगः**--मैं सुन्दर हूँ, रूपवान हूँ, सौभाग्यशाली हूँ, **अहम् युवा अहं शूरः अहं आढ्यः**--मैं जवान हूँ, शूरवीर हूँ, धनवान हूँ, अहं **विपश्चित्**--मैं विद्वान् हूँ तथा, **अहं सः**—मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, **इति विकल्पान्**--इस प्रकार नाना अभिमानके विकल्पोंमें, **आवहतः**—वह, तेरे होते तो, **ते**—तेरे, **हंस पदोदय न कल्प्यते**—आत्मपद की उन्नति नहीं होगी ॥ ७६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जबतक तू—मैं रूपवान् हूँ, सुंदर हूँ, युवा हूँ, शूरवीर हूँ, धनवान हूँ और विद्वान् हूँ–इन विकल्पोंमें फँसा रहेगा तबतक तुझे कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती—क्योंकि रूप आदिका अभिमान आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें बाधक है ॥ ७६ ॥

माया कषाय सपेरे की पिटारीके समान है—

अंतर्निगूढधृतरौद्रकषायसर्पा--
इच्छन्ना बहिःकपटकूटपिधानकेन
मायाहितुंडिककरंडकमंडलीव
मा पश्यतां कुशलिभिः कुशलोदयाय ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—**अंतर्निगूढ-धृत-रौद्र-कषाय सर्पाः**--अंतरंगमें छिपाए हैं रौद्र रूप धारण करनेवाले कषाय रूप सर्प जिसमें, **बहिः कपट कूट पिधानकेन**—और बाहिरसे मायाचारीके ढक्कनसे, **छन्ना**--ढकी हुई है ऐसी, **तुंडिक करकंड मण्डली इव**—सपेरे की गोल पिटारीके समान वह, **माया**—माया कषाय है अतः, **कुशलोदयाय**—अपनी कुशलताके लिए, **कुशलिभिः**—चतुर पुरुष, **मा पश्यताम्**--उस ओर दृष्टि भी न करे ॥ ७७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह माया सपेड़ोकी पिटारी है क्योंकि इसके भीतर तो महाभयंकर कषायरूपी सर्प छिपे हुये हैं और बाहर वह कपटरूपी पारेसे ढकी हुई है। इसलिये जो मनुष्य अपनी आत्माका कल्याण चाहनेवाले हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी कुशलताके लिये इस मायाकी ओर झांककर भी न देखें।

भावार्थ—जिस प्रकार सपेड़ीकी पिटारीमें भीतर सर्प भरे रहते हैं और ऊपर पारा-ढक्कन ढका रहता है उसी प्रकार मायाचारी मनुष्यके भीतर तो क्रोध आदि कषाय विद्यमान रहते हैं और ऊपरसे बात ऐसा करता है कि भीतरी क्रोध आदिका पता नहीं लगने देता—कपटसे वह बिलकुल सीधा-साधा भोला बन जाता है और दूसरोंके अहित करनेमें भी नहीं चूकता। इसलिये विद्वानोंको मायाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ७७ ॥

धर्म और शुक्ल ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति—

रौद्रार्तमशुभं त्यक्त्वा शुभं धर्म्यमधिष्ठिताः ।
तद्विशुद्धाश्च निर्वांति शुक्लध्यानेन योगिनः ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—जो, **अशुभं रौद्रार्तं त्यक्त्वा**—अशुभ रूप आर्तध्यान एवं रौद्र ध्यान त्यागकर, **शुभम् धर्म्यमधिष्ठिताः**—शुभ रूप धर्मध्यान की आराधना करते हैं तथा, **तद्विशुद्धाश्च**—धर्मध्यानके बलसे विशुद्ध परिणामी, **योगिनः**—साधुजन, **शुक्लध्यानेन निर्वांति**—शुक्ल ध्यानकर मोक्ष जाते हैं ॥७८॥

अर्थ—जो योगी अशुभध्यान आर्त और रौद्रका सर्वथा नाशकर धर्म्यध्याका अवलंबन करते हैं और धर्म्यध्यानसे विशुद्ध हो शुक्लध्यानका आचरण करते हैं वे निर्वाणधाममें जाकर विराजमान हो जाते है अर्थात् निराकुलतामय सुखका भोग करते हैं ॥ ७८ ॥

ध्याता के तीन भेद—

आर्तरौद्रोज्झिते ध्याने ध्यातारस्त्रिविधा मताः
आरंभकाश्च तन्निष्ठाः केऽपि निष्पन्नयोगिनः ॥७९॥

अन्वयार्थ—**आर्तं रौद्रोज्झिते ध्याने**—आर्त-रौद्र ध्यानके छोड़ देने पर ही धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान होते है, **ध्यातारः**—उन दोनों ध्यानोंके पालन करनेवाले ध्याता, **त्रिविधाः मताः**—तीन प्रकार के माने गए हैं। **आरंभकाश्च**—आरम्भ करनेवाले प्रारब्ध योगी, **तन्निष्ठाः**—उसमें लीन रहनेवाले तन्निष्ठ हैं। उन्हें घटमान योगी कहा है तथा, **निष्पन्नयोगिनः**—जो योगमें परिपूर्ण हो चुके हैं उनको निष्पन्न योगी कहते हैं ॥ ७९ ॥

अर्थ—आर्त और रौद्रको छोड़कर धर्म्य एवं शुक्ल—ये दो उत्तम ध्यान हैं और आरंभक, तन्निष्ठ और निष्पन्न भेदसे तीन प्रकारके ध्याता ध्यान करनेवाले हैं ॥७९॥

आरम्भक ध्याताका स्वरूप—

सम्यग्नैसर्गिकीं वा विरतिपरिणतिं प्राप्य सांसर्गिकीं वा
क्वाप्येकांते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानसस्तंभनाय ।
शश्वन्नासाग्रपाली-घनघटितदृशो धीरवीरासनस्था—
ये निष्कंपाः समाधेर्विदधति विधिनारंभमारंभकास्ते ॥८०॥

अन्वयार्थ—**नैसर्गिकीम् सांसर्गिकीम् वा विरति परणतिं प्राप्य**—अपने स्वभावसे ही विरक्त होकर या मुनि आचार्यके संसर्गसे विरति परिणाम को प्राप्तकर, **क्व अपि एकान्ते निविष्टाः**—किसी एकान्त प्रदेशमें बैठकर, **कपि-चपल-चलत् मानसस्तंभनाय**—बन्दरकी तरह चंचल मनके स्तंभनके लिए, **शश्वत् नासाग्र पाली घन घटित दृशः**—निरन्तर अपनी दृष्टि दृढ़तासे नासाग्र रखते हैं, **धीर वीरासनस्थाः**—धैर्य पूर्वक वीरासन लगाकर, **निष्कम्पा**—निश्चल होकर, **विधिना समाधे आरम्भम् विदधति**—विधिपूर्वक समाधिका प्रारम्भ करते हैं। **ते**—वे साधुजन, **आरंभकाः**—आरम्भक-प्रारब्ध योगी हैं ॥ ८० ॥

अर्थ—जो महानुभाव बंदरके समान चंचल मनके रोकनेके लिये स्वभावसे वा मुनि आदिके संसर्गसे विरक्त होकर, धीर वीर आसनको माढ़कर, एकान्त स्थानमें स्थित होते हैं और नासिकाके अग्रभागमें अपनी दृष्टि लगाकर निश्चल हो विधिपूर्वक समाधिका आरम्भ करते हैं वे आरम्भक ध्याता कहे जाते हैं।

भावार्थ—जबतक मन वशमें नहीं होता तबतक समाधिका आरम्भ भी नहीं हो सकता और मन उसीसमय वश में होता है जब कि संसारसे सर्वथा ममत्व छोड़कर, दृढ़ आसन माढ़कर नासाग्र दृष्टि होकर एकान्त स्थानमें स्थिति की जाती है। इसलिये जो मुनि इसरूपसे मनको वशकर समाधिका प्रारम्भ करते हैं वे आरम्भक ध्याता कहे जाते हैं ॥ ८० ॥

आत्मा और मन का संवाद—

हंहो मानस ! किं विभो ! भ्रमसि किं ! व्याकृष्टमत्रेन्द्रियैः
कस्मिन् ! वैषयिके सुखे तवसुखं किं सौख्यमेकाग्रता ।

सास्यात्केन ? समाधिना क्व स ! मयि क्वासि त्वमस्मिन्नहं
पश्यांतर्विश जीवदेव सुचिरं दृष्ट्या प्रसादं कुरु ॥८१॥

अन्वयार्थ—हंहो मानस—हे मन, **किं विभो !**—क्या है स्वामी ? **किं भ्रमसि**—क्यों यत्र-तत्र भ्रमण करते हो ? **इन्द्रियैः व्याकृष्टम्**—इन्द्रियोंके द्वारा आकर्षित होकर भ्रमण करता हूँ। **कस्मिन्**—कहाँ भ्रमण करते हो ? **वैषयिके सुखे**—पंचेन्द्रियोंके विषय सुखके लिए। **तदसुखं**—वह सुख तो सुख नहीं है। **किं सौख्यम्**—फिर सुख क्या है ? **एकाग्रता**—निराकुलतासे रहना सुख है, **सा केन स्यात्**—वह निराकुलता कैसे होती है ? **समाधिना**—समाधिके द्वारा प्राप्त होती है। **क्व स**—वह कहाँ है ? **मयि**—मेरेमें है, **त्वम् क्व असि**—तुम कहाँ हो। **अहं अस्मिन्**—मैं समाधि में हूँ, **अंतर्विश**—मेरे भीतर प्रवेश करो तथा, **पश्य**—भीतर देखो। अन्तमें मन कहता है कि, **हे जीवदेव !**—हे जीव रूपी देवता ! **दृष्ट्या सुचिरं प्रसादं कुरु**—तो मुझ पर कृपा दृष्टिकर सदाके लिए प्रसन्न होओ ॥ ८१ ॥

अर्थ—यहाँ आत्मदेव और मनका आपसमें संवाद प्रस्तुत है—जीवदेव—अरे मन, मन—महाराज ! आत्मा—क्यों भ्रमण करते हो ? मन—इंद्रियोंके आधीन हूँ। आत्मा—कहाँ ? मन—विषय सुखमें। आत्मा—अरे भाई वह तो दुःख है—सुख नहीं। मन—सुख क्या है ? आत्मा—एकाग्रता-निराकुलता। मन—वह कैसे प्राप्त होता है ? आत्मा—समाधिसे। मन—वह कहाँ है ? आत्मा—मुझमें। मन—तुम कहाँ हो ? आत्मा—समाधिमें। यदि निश्चय न हो तो भीतर बैठकर देखो। मन—हे देव ! यदि ऐसा है तो मुझपर प्रसन्न हों-मुझे अपनेमें निश्चल होकर रहनेके लिये स्थान दें।

भावार्थ—इस श्लोकमें आत्माने मनको इसप्रकार समझाया है कि हे मन ! तू इन्द्रियोंके आधीन हो विषय सुखमें क्यों फँसा हुआ है ? यह विषय सुख, सुख नहीं परम सुख है। किन्तु सुख निराकुलता है। वह समाधिसे प्राप्त होती है। समाधि मुझमें और मैं समाधिमें लीन हूँ। यदि इस बातको तू मिथ्या माने तो भीतर प्रविष्ट होकर देख और चंचलता छोड़कर वहाँ निराकुलता-मय सुखका अनुभव कर ॥ ८१ ॥

तन्निष्ठ ध्याता का स्वरूप—

कुर्वाणो मरुदासनेंद्रियमनःक्षुत्तर्षनिद्राजयं
योऽतर्जल्पनिरूपणाभिरसकृत्तत्त्वं समभ्यस्यति ।

सत्त्वानामुपरि प्रमोदकरुणामैत्रीभृशं मन्यते
ध्यानाधिष्ठितनिष्ठयाभ्युदयते तस्येह तन्निष्ठता ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—यः—जो मुनि, **मरुत-आसन-इन्द्रिय-मनः क्षुत-तर्ष-निद्रा जयं कुर्वाणः**—प्राणायाम, आसन आदि प्रयोगोंसे इन्द्रिय विजय तथा मन विजय, क्षुधा, प्यास और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है तथा, **अन्तर्जल्प निरूपणाभिः**—मौन पूर्वक अन्तर्जल्प द्वारा, **तत्त्वं असकृत समभ्यस्यति**—तत्त्वों का बार-बार चिन्तन कर अभ्यास करता है और, **सत्त्वानामुपरि**—प्राणिमात्रके प्रति, **भृशं**—बार-बार, **प्रमोद-करुणा-मैत्री मन्यते**—हर्ष, दया, मित्रता आदि यथायोग्य स्वीकार करता है साथ ही, **ध्यानाधिष्ठित निष्ठया**—ध्यानमें निष्ठापूर्वक स्थित होता है, **तस्य इह निष्ठता**—उसी साधुको ध्यान की सिद्धि होती है ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो योगी काम, इंद्रिय, मन, क्षुधा, तृष्णा और निद्राको जीतता है। बाहर शब्दोंको प्रकाशित न कर भीतर ही भीतर तत्त्वोंका अभ्यास करता है, विद्वान् मनुष्योंपर प्रमोद, दुःखित जीवोंपर करुणा और समस्त जीवोंमें मित्रभाव रखता है एवं ध्यानमें जिसकी पूरी पूरी भक्ति है वह तन्निष्ठ (ध्यानमें प्रेम रखनेवाला) ध्याता कहलाता है ॥ ८२ ॥

तन्निष्ठ योगीका ध्यान—

समौ सिद्धौ ध्यानाध्ययनतुरगावस्य सुखदौ
स्थितौ पार्श्वे यस्मिन् रुचिरथमथारोहतु मुनिः।
अतिक्रामत्वेवं गुरुगहनसंसारसरणिं
क्रमादुद्भूतांतर्लयमविलयं यातु निलयं ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—मुनिः योगी, **यस्मिन् पार्श्वे**—जिस रथके पास, **ध्यानाध्ययन तुरगौ**—ध्यान और अध्ययन ये दोनों घोड़े, **सुखदौ समौ सिद्धौ**—जो सुख-दायक है समान रूपसे चलकर कार्य सिद्धि करने वाले ऐसे, **रुचिरं रथं**—सम्यग्दर्शन रूपी तत्त्व रूचिके रथ पर, **आरोहतु**—आरोहण करें। तो, **एवं**—इस प्रकार वे, **गुरु गहन संसार सरणिम्**—अत्यन्त गहन संसार रूपी अटवीके मार्गको, **अतिक्रामतु**—पार करें और, **क्रमात्**—क्रम क्रमसे, **अविलयं निलयम्**—अविनाशी मोक्षनिवासको, **यातु**—प्राप्त करें ॥ ८३ ॥

अर्थ—इस तन्निष्ठ योगीके ध्यान और अध्ययन दोनों अश्वके समान हैं, पूर्ण रूपसे शिक्षित हैं, सुख प्रदान करनेवाले हैं और श्रद्धारूपी रथके पास खड़े हुये हैं-रथमें जुते हुये हैं। यदि यह योगी इस रथमें बैठे तो महागहन संसार-रूपी मार्गको तय करे और आत्मामें लीन होकर निराकुलतामय अविलय निलय-अविनाशीक स्थान-मोक्षमें जा विराजे।

भावार्थ—जिसप्रकार समान शक्तिवाले शिक्षित और मनोहर अश्वोंसे युक्त रथमें बैठनेवाला मनुष्य कठिनसे कठिन भी मार्गको तयकर यथास्थान पहुँच जाता है उसीप्रकार यदि तन्निष्ठयोगीके प्रबल ध्यान और अध्ययनके साथ आत्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी अभिलाषा वा रुचि होगई है तो वह आत्मस्वरूपमें लीन होकर और संसारका नाशकर मोक्षमें जा निराकुलतामय सुखका अनुभव कर सकता है ॥ ८३ ॥

निष्पन्न ध्याता (योगी) का स्वरूप—

उपरितवहिरंतर्जल्पकल्लोलमाले
लसदविकलविद्यापद्मिनीपूर्णमध्ये ।
सततममृतमंतर्मानसे यस्य हंसः
पिबति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्नयोगी ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—**यस्य**—जिसका, **हंसः**—आत्मा, **उपरित बहि, अंतः जल्प-कल्लोल माले**—बाह्य और अन्तर्जल्प अर्थात् शब्द रूपी लहरों [विकल्पों] की माला अर्थात् पंक्तिसे दूर हो गया है तथा, **लसत् अविकलविद्या-पद्मिनी-पूर्ण-मध्ये**—प्रकाशमान पूर्ण केवलज्ञानरूपी कमलिनीके मध्यमें, **अंतर्मानसे**—अपने मानसमें या मानसरूपी मानसरोवरमें, **निरुपलेपः**—स्वच्छ, **अमृतम्**—अमृतको, **सततं**—निरन्तर, **पिबति**—पीता है अर्थात् जल्पको छोड़कर मौन-पूर्वक जिसका आत्मा भगवान्के ध्यानसे अथवा स्वात्म भावमें परमानंदका पान करता है, **सः अत्र निष्पन्न योगी**—उसे ही यहाँ पर निष्पन्न योगी-पूर्णयोगी कहा गया है ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यका हंस—आत्मा बाह्य-आभ्यंतर दोनों प्रकारके जल्प-रूपी तरंगोंसे रहित—शांत, देदीप्यमान, अविकलविद्या-केवलज्ञानरूपी कम-लिनीसे संयुक्त मानस सरोवरमें अपने आत्मामें निरंतर अमृतपान-रूप-स्वरूप-का चिंतवन करता रहता है और निरुपलेप—कर्मके लेपसे रहित है वह मनुष्य निष्पन्नयोगी नामका ध्याता कहा जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार निस्तरंग और कमलोंके समूहसे शोभित मानस सरोवरमें हंस सानंद मिष्ट जलका पान करता है उसी प्रकार बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकारके जल्पोंसे रहित और अखंड केवलज्ञानरूपी विभूतिसे शोभित अपने आत्मामें जो योगी अपने स्वरूपका चिंतवन करता है और कर्मोंके चक्रसे छूट गया है वह निष्पन्नयोगी कहलाता है ॥८४॥

निष्पन्न योगीकी स्थिरता—

प्रचलति किल क्षोणीचक्रं चलंत्यचला अपि
प्रलयपवनप्रेंखालोलाश्चलंति पयोधयः ।
पवनजयिनः स्वावष्टंभप्रकाशितशक्तयः
स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलंति न योगिनः ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—**यदि**—कदाचित्, **क्षोणीचक्रम्**—यह समस्त स्थिर पृथिवी मण्डल, **प्रचलति**—चलायमान हो जाये तथा, **अचला अपि**—बड़े-बड़े अचल गिरि, (पर्वत) भी स्थान छोड़ दें, चंचल हो जाये तथा, **प्रलय पवन प्रेंखा लोलाः पयोधयः**—प्रलयकालके प्रचण्ड पवन वेगसे समुद्र भी मर्यादा छोड़कर चंचल हो जाये तो भी, **पवनजयिनः**—प्राणायाम द्वारा पवनजयी और, **स्व अवष्टम्भ-प्रकाशितः शक्तयः**—स्वात्मावलंबनके बलसे जिन्होंने आत्म-शक्तियोंको प्रकटित किया है वे, **योगिनः**—योगीजन, **स्थिरपरिणतेः आत्म-ध्यानात्**—अपने आत्मध्यानकी स्थिर परिणतिसे कभी, **न चलन्ति**—विचलित नहीं होते ॥ ८५ ॥

अर्थ—चाहे पृथ्वीचक्र भी क्यों न कंपायमान हो जाय ! अचल भी पर्वत क्यों न चलायमान हो जाय ! प्रलयकालके पवनके प्रबलवेगसे समुद्र भी क्यों न चल अचल हो उठे। परंतु जिन योगीश्वरोंने अपनी प्राणवायुका विजय और स्वाधीन शक्तिको प्राप्त कर लिया है—महाशक्तिमान हो चुके हैं वे कभी भी निश्चल आत्मध्यानसे विचलित नहीं होते।

भावार्थ—यद्यपि पृथ्वी, पर्वत और समुद्रोंका चल-विचल होना दुस्साध्य है तथापि किसी अवसरपर ये चल-विचल हो उठते हैं परंतु जो योगिगण अपनी प्राणवायुको वशकर अचिंत्य स्वाधीन शक्तिका लाभ कर चुके हैं—जिनकी आत्मा अनंत बलकी धारक बन गई है वे कभी भी ध्यानसे विचलित नहीं होते अर्थात् भयंकरसे भयंकर उपद्रव भी उनका बाल भी बांका नहीं कर सकते ॥ ८५ ॥

धर्म के विविध स्वरूपोंका ध्यान करना भी धर्म्यध्यान है–

धर्मो वस्तुस्वभावः शमधृतिरथ वा स्वोत्थशुद्धोपयोगः
सद्वृत्तं वा श्रुतं वा दशविधविलसल्लक्षणो वापि धर्मः ।
धर्मस्थं धर्मधाम प्रगुणगुणगणं पंचकं वा गुरूणां
नेदृक्षाद् ध्येयधर्माद् व्यपगतमिति हि ध्यानमाभाति धर्म्यं ।८६।

अन्वयार्थ—धर्मयुक्त ध्यान धर्मध्यान है। वह धर्म क्या है ? इसका प्रतिपादन यहाँ किया गया है। **वस्तुस्वभावः धर्मः**—प्रत्येक वस्तुका निज स्वभाव उसका धर्म है। आत्माका स्वभाव आत्मधर्म है, **अथ शमधृति धर्मः**—शान्ति और धैर्य परिणाम भी धर्म है, **वा स्वोत्थ शुद्धोपयोगः धर्मः**—राग-द्वेष विहीन शुद्धात्मपरिणति भी धर्म है, **सद्वृत्तं**—सदाचार भी धर्म है, **श्रुतं वा**—शास्त्र स्वाध्याय धर्म है, **दशविध-विलसत् लक्षणः वा**—उत्तम-क्षमादि दस प्रकार भी धर्म है, **धर्मस्थं**—धर्ममें स्थित जनोंका आदर भी धर्म है, **धर्मधाम**—धर्मके स्थान जिन-मंदिर, स्वाध्यायशाला या धर्माराधक गुरुजन भी धर्म है, **प्रगुण गुणगणं**—प्रकृष्ट गुणोंके धारण करने वाले, **गुरुणां पञ्च-कम्**—पञ्चपरमेष्ठी भी धर्म है। इनका ध्यान ही धर्म्य ध्यान, है। **ईदृक्षात्**—इन धर्मके भेदोंसे भिन्न, **ध्येयधर्मात्**—ध्येयधर्मसे, **व्यपगतम्**—विरहित-विषय-कषायके आलंबनसे होने वाले ध्यान धर्मध्यान नहीं हैं ॥ ८६ ॥

अर्थ—वस्तुका स्वभाव, शांतिका धारण करना, केवल आत्मासे उत्पन्न केवलज्ञान-केवलदर्शन गुणस्वरूप शुद्धोपयोग, सम्यक्चारित्र, शास्त्र वा दस-प्रकारके लक्षणोंके धारक उत्तमक्षमा, मार्दव आदि दस धर्म कहे जाते हैं अथवा धर्मके धारण करनेवाले, धर्मके स्थान, अनेक गुणोंके भंडार अर्हंत, सिद्ध, आचार्य आदि पांच गुरु भी धर्म कहे गये हैं। इसलिये इनके स्वरूपका चिंतवन करना ही धर्म्य-ध्यान है और इनसे भिन्न पदार्थोंके चिंतवन करने-को धर्म्यध्यान नहीं कहते।

भावार्थ—धर्मके स्वरूपका चिंतवन करना धर्म्यध्यान है और वह धर्म वस्तुका स्वभाव चिंतवन करना अर्थात् आत्माका स्वरूप क्या है ? धर्म, अधर्म, आकाश किन पदार्थोंको कहते हैं ? कर्म किसका नाम है ? ऐसा विचार करना, शांति धारण करना, केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप शुद्धोपयोग, सम्यक्-चारित्र, शास्त्र, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग,

आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, अथवा अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इसप्रकार अनेक प्रकारका माना गया है इसलिये इन्हींके स्वरूपका चिंतवन करना धर्म्यध्यान है और मोहके कारण स्त्री, पुत्र आदि पदार्थोंका चिंतवन करना धर्म्यध्यान नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥

धर्मध्यान के भेद—

आज्ञामपायं विविधं विपाकं संस्थानमित्थं न तदन्यथेति ।
वै चिंत्यते येन यतोऽथ यत्र चत्वारि तत्त्वानि तदेव धर्म्यं ॥८७॥

अन्वयार्थ—आज्ञाम् अपायं विविधं विपाकं इत्थं संस्थानम्—आज्ञाविचय, अपायविचय,कर्मोदयके विविध विपाकोंका विचय तथा आगमोक्त लोक संस्थान विचय–इन चारोंके अवलंबनसे, **येन वै चिन्त्यते**—जो चिन्तन किया जाता है, **न तदन्यथा इति**—वह अन्यथा ध्यान नहीं है, **अथ यतः यत्र चत्वारि चिन्त्यते**—ये चार भी तत्त्व हैं, यथार्थ है अतः इनका चिन्तन भी, **धर्म्यम्**—धर्मध्यान है ॥ ८७ ॥

अर्थ—जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय –ये चार भेद हैं और जहाँपर इनके यथार्थ स्वरूपका चिंतवन किया जाता है वही धर्म्यध्यान है ॥ ८७ ॥

धर्मध्यान के भेदों का विवेचन—

आज्ञा जैनवचःप्रमाणकरणं कर्मात्मनोः सर्वथा
विश्लेषोऽयमपाय इत्यनुभवस्तेषां विपाकाह्वयः ।
संस्थानं भुवनस्थितिश्च विचयस्तद्भाविनी भावना
धर्म्यं ध्यानमुदाहृतं हृतमहामोहं चतुर्धा बुधैः ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—जैनः वचः प्रमाणकरणं—जिनेन्द्र के वचनों को आज्ञा मानकर प्रमाण करना, **आज्ञा**—आज्ञा विचय धर्मध्यान है। **कर्म-आत्मनोः**—अपनी आत्मा तथा कर्म को, **विश्लेषः**—भिन्न-भिन्न तत्त्व मानना, **अयमपायः**—यह अपायविचय धर्मध्यान है। **भुवनस्थितिः संस्थानम्**—तीनों लोकों की स्थिति ही लोक संस्थान है। इन सबका, **विचयः**—विचय अर्थात्, **तद् भाविनी भावना**—उनके आसेवन से भावना करना इसे, **बुधैः**—विद्वानों ने, **हृतमहामोहं**—मोह मिथ्यात्व भाव को दूर करने वाला, **चतुर्धा धर्म्य-ध्यानम् उदाहृतम्**—चार प्रकार का धर्म्यध्यान कहा है ॥ ८८ ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रके वचनोंपर विश्वास करना—उन्हें प्रामाणिक मानना आज्ञा है। कर्म और आत्माका सर्वथा विश्लेष—जुदाई जानना अपाय है। कर्मोंके फलका अनुभव करना विपाक है। लोककी स्थिति संस्थान है। आज्ञा आदिकी भावनाका करना विचय है। इस प्रकार मोहका सर्वथा नाश करने वाले धर्म्यध्यानके ये चार भेद हैं।

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रके वचन ऐसे और इसीप्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं, ऐसी दृढ़रूपसे मनमें भावना करना आज्ञाविचय है। कर्म और आत्मा यद्यपि अनादि कालसे आपसमें सम्बद्ध हैं परन्तु जुदे ही हैं इसप्रकार इनकी जुदाईकी भावना करना अपायविचय है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे आवृत-ढके हुए ज्ञान आदिका अनुभव करना विपाक विचय है और लोककी लम्बाई, चौड़ाई आदिकी भावना संस्थानविचय है। इस प्रकार ये चारों भेद धर्म्यध्यानके हैं॥ ८८॥

आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप—

सत्तैका द्विविधो नयः शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः
कायाः पंच षडंगिनां च निचयाः सा सप्तभंगीति च।
अष्टौ सिद्धगुणाः पदार्थनवकं धर्मं दशांगं जिनः
प्राहैकादश देशसंयतदशाः सद्द्वादशांगं तपः॥ ८९॥
सम्यक्प्रेक्षाचक्षुषा वीक्ष्यमाणो यद्यादृक्षं सर्ववेद्याचचक्षे।
तत्तादृक्षं चिंतयन्वस्तु यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रां मुनींद्रः॥९०॥

अन्वयार्थ—**जिनः**—जिनेन्द्र ने, **सत्तैकः**—सत्ता सामान्य को एक कहा है। **नयः द्विविधः**—नय के दो भेद हैं। **शिवपथस्त्रेधा**—मोक्षमार्ग के कारण तीन बतायें हैं, **चतुर्धा गतिः**—गतियां चार बताई हैं, **कायाः पञ्च**—शरीरके पाँच भेद बताये हैं। **अंगिनाम् निचयः षट्**—पृथिवीकायादि पाँच और त्रसकाय ऐसे छह प्राणियों के भेद बताए हैं, **सप्तभंगीति**—नयों के सात भंग बताए है, **अष्टौ सिद्ध गुणाः**—सिद्धों के आठ गुण बताये है। **पदार्थ नवकम्**—नौ पदार्थ बताए हैं, **दशांगं धर्मम्**—क्षमादि दस धर्म कहे हैं, **देशसंयत दशाः**—एकादश प्रकार श्री श्रावक प्रतिमायें कही हैं, **द्वादशांगं तपः**—बारह प्रकार के तप बताए हैं, **प्राहुः**—जिनेन्द्र प्ररूपित है, अतः इनकी श्रद्धा आज्ञा-विचय है॥ ८९॥

यत् यादृक्षं सर्व वेद्य आचचक्षे—ऊपर लिखे प्रमाण और सर्वज्ञदेव ने कहा है, **तत् तादृक्षम्**—उनका उसी प्रकार से, **सम्यक् प्रेक्षाचक्षुषा**

वीक्ष्यमाणः—भले प्रकार अपने ज्ञाननेत्र से, विवेक से देखता है **तथा तादृक्षम् वस्तु चिन्तयत्**—उसी प्रकार वस्तु है ऐसा चिन्तन करता है वही, **मुनीन्द्रः**—मुनिवर, **आज्ञा धर्म्यध्यानमुद्रां**—आज्ञा विचय धर्मध्यान की मुद्रा को, **याथात्**—प्राप्त करता है ॥ ९० ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रने एक पदार्थ सत्ता, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार–ये दो नय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन एकरूप मोक्षके मार्ग, देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच—ये चारगतियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण—ये पाँच शरीर, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक; ये छह प्रकारके जीव; स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिचावक्तव्य, स्यान्नास्तिचावक्तव्य और स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्य–ये सात भंग; सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व और अवगाहना—ये आठ सिद्धोंके गुण; जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नौ पदार्थ; उत्तमक्षमा, मार्दव आर्जव आदि दस धर्म; दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिचितपरिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उत्कृष्ट श्रावक—ये ग्यारह श्रावकोंकी प्रतिमा तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये बारह तप बतलाये हैं। इसप्रकार जो मुनिवर भावनारूपी नेत्रसे भले प्रकार पदार्थोंको देखकर, भगवान केवलीने जो पदार्थोंका स्वरूप बतलाया है, उसका विचार करता है वह मुनिवर आज्ञाविचय-धर्म्यध्यानका धारक कहा जाता है।

भावार्थ—भगवान जिनेंद्रने जो सत्ता, तप आदिका स्वरूप और उसके भेद बतलाये हैं उनका उसी प्रकारसे जो मुनिवर चिंतवन करता है वह आज्ञाविचय धर्म्यध्यानी कहा जाता है ॥ ८९-९० ॥

अपाय विचय धर्मध्यान का स्वरूप—

यावृक्चिह्नं प्रकृतिरपि या यन्निदानं यदोजो
यः प्रारंभो विकृतिरथ या तत्तदालक्ष्य साक्षात् ।
कर्मव्याधेरुपशमकरैर्योग्ययोग्यैरुपायैः
प्रोद्भिन्नानो यतिपतिभिरुपाय्यापायाख्यधर्म्यं ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो मुनीन्द्ररूपी वैद्य कर्मरूपी व्याधिको इसप्रकार जांचकर कि इसके लक्षण ऐसे हैं, ऐसी प्रकृति है, यह इसका निदान है, ऐसा प्रकोप है,

इस तरह इसका प्रारम्भ हुआ है और इसका विकार यह है, उसके उपशम करनेवाले योग्य-योग्य उपायोंसे उसे दूर करता है उसके अपायविचय नामका धर्म्यध्यान होता है।

भावार्थ—जिसप्रकार वैद्य, रोगके लक्षण, प्रकृति, कारण, प्रकोप, प्रारम्भ और विकारको भलेप्रकार जांचकर योग्य-योग्य उपायोंसे उसे दूर करता है, उसीप्रकार जो मुनि कर्मोंका चिह्न, स्वभाव, कारण, शक्ति, प्रारम्भ और विकारको भले प्रकार जानकर उन्हें मूलसे नष्ट करता है उस योगीके अपाय-विचय नामका धर्म्यध्यान होता है॥ ९१ ॥

विपाकविचय धर्मध्यान का स्वरूप—

अष्टानामपि कर्मणां निजनिजोत्पत्तिक्रमाद्भाविनी
या यावत्युदयावली बलवती यद्यद्विधत्ते फलं।
तत्तद्रूपनिरूपणा प्रतिफलत्यंतर्यतो योगिनां
ध्यानं ध्यानधुरंधरास्तदनघं वैपाकधर्म्यं विदुः॥ ९२॥

अन्वयार्थ—**अष्टानामपि कर्मणाम्**—ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की, **निज निज उत्पत्ति क्रमात्**—अपने-अपने उदयकाल में उत्पत्ति के क्रम से, **भाविनी**—होनेवाली, **बलवती उदयावली**—बलवान् उदयावली, **या यावति**—जो जितने कालतक, **यत् यत् फलं विधत्ते**—जो जो फल देती है। **योगिनाम् अन्तरि**—योगियों के मानस में, **तत् रूप निरूपणा प्रतिफलति**—उस उस रूप से उसका प्रतिफलन होता है, **यतः**—जिस ध्यान में यह होता है, **ध्यानधुरंधराः**—ध्यान के परिपक्व कुशल योगीजन, **तत् ध्यानम्**—उस ध्यान में, **अनघं वैपाक धर्म्यं विदुः**—पवित्र विपाक धर्म्य ध्यान कहते हैं॥ ९२॥

अर्थ—जिस धर्म्यध्यानके द्वारा योगियोंके चित्तमें अपने-अपने समयमें उदयमें आनेवाले ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके उदयसे जो-जो फल उत्पन्न होते हैं वे प्रतिफलित रहते हैं—सदा कर्मोंके फलोंका ध्यान होता रहता है, उन योगियोंके परम पवित्र विपाक नामका धर्म्यध्यान होता है।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय—ये आठ कर्म हैं। ये अपने-अपने समयसे उदयमें आते रहते हैं और इनके फल भी जुदे जुदे होते हैं। जो योगी अपने चित्तमें इन कर्मोंके फलका चिंतवन करता रहता है उसके विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान होता है॥ ९२॥

संस्थान विचय का स्वरूप—

त्रिचत्वारिंशद्भिस्त्रिशतमधिकं यस्य घनतः
प्रमाणं रज्जूनां त्रिपवनपुटैर्यो वलयितः ।
कटीहस्तोर्ध्वस्थप्रसृतपदपुंसाकृतिरसौ
स्थिरश्चिन्त्यो लोकः सततमिति संस्थानविचयः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—असौ लोकः—यह समस्त लोक है वह, **कटी-हस्त-ऊर्ध्वस्थ-प्रसृत-पद-पुंसाकृतिः**—खड़ा हुआ पुरुष दोनों पैर फैलाकर दोनों हाथ कमर पर रखकर जो आकार बनता है उस आकार का है। **त्रिचत्वारिंशद्भिः त्रिशतं अधिकम्**—तीनसौ तैंतालीस, **रज्जूनां प्रमाणम्**—रज्जु प्रमाण, **घनतः**—घन रूप से है प्रमाण जिसका तथा, **यः**—जो लोक, **त्रिपवनपुटैः**—तीन वात-वलयों से, **वलयितः**—चारों ओर से घिरा हुआ है। **सततं स्थिरः**—सदाकाल से सदाकाल तक स्थिर रहने वाला है। **चिन्तयः**—उसका चिन्तन करना चाहिए। **इति संस्थान विचयः**—यह संस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान है ॥ ९३ ॥

अर्थ—यह लोक तीनसौ तैंतालीस राजू घनाकार है। सदा इसको घन-वात, तनुवात और अंबुवात तीनों प्रकारके पवन वेष्टित किये रहते हैं। यह हाथोंको कमरपर रखकर पैरोंको पसारकर सीधे खड़े हुये मनुष्यके आकार है, और स्थिर है। ऐसे लोकके स्वरूपका जो मनमें चिंतवन करता है उसका नाम संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ ९३ ॥

धर्मध्यान की परम विशुद्धता ही शुक्लध्यानकी भूमिका है—

मलमनलशिखाभिस्तापितं हेम यद्व-
त्त्यजति भजति वर्णोत्कर्षतः षोडशत्वं ।
अधिकतरविशुद्धेर्निर्मलीभूय तद्व-
त्परिणमति हि शुक्लध्यानभावेन धर्म्यं ॥९४॥

अन्वयार्थ—यद्वत्—जिसप्रकार, **हेम**—सोना, **अनलशिखाभि**—अग्नि की शिखाओंके द्वारा, **तापितः**—तपाया जाता है तब वह, **मलिनम् त्यजति**—अपने भीतर की मलिनताको त्याग देता है। तथा, **वर्णोत्कर्षतः**—अपने शुद्ध रंग को श्रेष्ठतासे, **षोडशत्वं भजति**—सोलह वानका शुद्ध सोना बनता है, **तद्वत**—इसी तरह धर्मध्यान, **अधिकतर विशुद्धेः**—अपनी धर्म्यरूपी अग्नि

द्वारा अधिक से अधिक विशुद्धताको पाकर, **निर्मली भूय**—समस्त रागद्वेष जनित मलका नाशकर, **परिणमति**—निर्मलताके रूपमें परिणमता है तब, **शुक्लध्यान भावेन**—शुक्लध्यानके रूपमें परिणम जाता है ॥९४॥

अर्थ—जिसप्रकार बार-बार अग्निसे तपाया हुआ सुवर्ण कीट आदि मैलको छोड़कर अपने वर्णकी अधिक चमक-दमकसे सोलह बारका तपा हुआ **अर्थात्** बिल्कुल शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार धर्म्यध्यान जिससमय अधिक शुद्ध हो जाता है उससमय वही शुक्लध्यान बन जाता है।

भावार्थ—जिसप्रकार कीट कालिमा आदि निश्चित सुवर्णकी शुद्ध सुवर्ण पर्याय होती है उसीप्रकार धर्म्यध्यानकी अतिशय विशुद्ध पर्याय शुक्ल-ध्यान होती है इसलिये धर्म्यध्यानकी प्राप्ति होती ॥ ९४ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोंका विवरण—

योऽर्थव्यंजनयोगसंक्रमविधेर्भेदः श्रुतालंबन-
स्तत्पार्थक्यवितर्कयुग्विचरणं शुक्लं वदंत्यादिमं ।
किंचार्थप्रमुखेष्वसंक्रममिहैकत्वश्रुतालंबनं
प्राहैकत्ववितर्कणाविचरणाभिख्यं द्वितीयं जिनः ॥९५॥
कायक्रिया किमपि सूक्ष्मतरास्ति यस्मिन्
सूक्ष्मक्रियं निकटसंघटमानसिद्धि ।
सूक्ष्मक्रियापि न तु यत्र तुरीयकं त-
च्छिन्नक्रियं भवति निर्वृतिरेव तस्मात् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—**यः-अर्थ-व्यंजन-योग-संक्रम-विधेः भेदः**—जिस शुक्लध्यानमें अर्थका, शब्दका तथा त्रियोगोंमें परिवर्तन होता है अतः पृथकत्व विशेषण जिसमें है तथा, **श्रुत आलंबन**—श्रुतज्ञानके आधार पर, **तत् पार्थक्य वितर्कं युक्**—उनके पृथकत्वका, **विचरणम्**—विचार-चिन्तन किया जाता है, **तत्**—उसे, **आदिमं शुक्लं वदन्ति**—उसे प्रथम पृथकत्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान कहा जाता है। **किंच**—तथा, **अर्थ प्रमुखे अपि**—अर्थके विचारकी प्रमुखता होनेपर भी, **असंक्रमम्**—जहाँ परिवर्तन न हो, **इह श्रुतावलंबनम् एकत्वम्**—किन्तु जहाँ श्रुतके अवलंबनसे एकत्वका चिन्तन हो उसे, **एकत्व-वितर्क-विचरणा अभिख्यं**—एकत्ववितर्क विचरण नामक, **द्वितीयं**—दूसरा शुक्लध्यान, **जिनः प्राह**—जिनेन्द्रने कहा है ॥ ९५ ॥

यस्मिन्—जिस ध्यानमें, **किमपि सूक्ष्मतरा कायक्रिया अस्ति**—कुछ सूक्ष्म काययोगकी क्रिया मात्र रह जाती है वह, **सूक्ष्मक्रियं**—सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान है, **निकट-संघटमानसिद्धि**—मोक्षकी सिद्धि जिसके समीप आ जाती है ऐसा तृतीय शुक्लध्यान है। **यत्र तु**—जहाँ पर, **सूक्ष्म क्रियाऽपि न**—सूक्ष्म क्रिया रूप काययोगका भी अभाव हो जाता है, **तत्**—उस ध्यानको, **छिन्न क्रियं तुरीयकं**—छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान कहते है, **तस्मात् निवृत्तिः एव भवति**—उससे मोक्ष ही होता है। इसतरह-१. पृथक्त्व वितर्क वीचार, २. एकत्व वितर्क वीचार, ३. सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति, ४. व्युपरत क्रिया निवृत्ति—ऐसे शुक्लध्यानके चारों भेदोंका स्वरूप तथा उनका फल यहाँ बतलाया गया है ॥ ९६ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति—ये चार भेद हैं।

इनमें जो ध्यान वितर्क और विचार दोनोंसे युक्त हो वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान है। अर्थ, व्यंजन और योगोंके पलटनेको विचार और श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगोंका पलटना न हो किन्तु वितर्क हो वह एकत्ववितर्कवीचार नामका द्वितीय शुक्लध्यान है। जिसमें शरीरकी क्रिया बिलकुल सूक्ष्म हो जाती है और जिसके पासमें ही मोक्ष रह जाता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान है। और जहाँ उस सूक्ष्मक्रियाका भी नाश हो जाता है तथा जिससे मोक्ष ही होता है वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान है।

इनमें पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान मन वचन काय तीनों योग धारण करनेवाले सकल श्रुतधारीके होता है। दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनों में से किसी एक योगवाले श्रुतज्ञानीके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान काय योगवाले केवलीके और चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानवालेके होता है॥ ९६ ॥

भावार्थ—ध्येयद्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायोंका ध्यान करना और पर्यायोंको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करना अर्थ-संक्रांति है। शास्त्रके किसी एक वचनका अवलम्बन कर दूसरे वचनका अवलम्बन करना एवं उसे छोड़ और दूसरे वचनका अवलम्बन करना व्यंजनसंक्रांति है। तथा काय योगको छोड़कर मनोयोगका धारण करना वा उसे छोड़ वाग्योगका धारण करना

BARAKCHAND JAIN

योग संक्रांति है। जिसमें ये तीनों संक्रांति और वितर्क हो उसे पृथक्त्व-वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें अर्थ आदिकी संक्रांति तो न हो किन्तु वितर्क अवश्य हो उसका नाम एकत्ववितर्क नामका दूसरा शुक्लध्यान है। जहाँपर शरीरकी क्रियाओंकी सूक्ष्मता हो वह तीसरा सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती है और जहाँपर उसका भी अभाव हो जाय वह व्युपरतक्रिया-निवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान है।

किस गुणस्थानमें कौन-कौन ध्यान होते हैं? इनका विवरण पाँच पद्योंमें बतलाया जा रहा है—

मिथ्यासासादनमिश्रस्थानकस्थायिनो जनाः।
आर्तरौद्राशुभध्यानसंधानस्याधिकारिणः ॥९७॥
तथाविरतसद्दृष्टौ विरताविरतेऽपि च।
धर्म्यध्यानं जगुर्गौणं प्रमादिति च संयते ॥९८॥
मुख्यवृत्त्या तदेव स्यादप्रमत्तादिधामसु।
शमकक्षपकश्रेण्योराद्यं शुक्लद्वयं क्रमात् ॥९९॥
सूक्ष्मक्रियं समाध्यास्ते स योगी योगिनां वरः।
समुच्छिन्नक्रियं योगवर्जितः परमेश्वरः ॥१००॥
सिद्धा न ध्यानकर्तारो न गुणस्थानवर्तिनः।
अष्टात्मगुणसम्पन्ना अनष्टात्मगुणाः परं ॥१०१॥

अन्वयार्थ—**मिथ्या-सासादन-मिश्र-स्थानक स्थायिनः जनाः**—१. मिथ्यात्व २. सासादन, ३ मिश्र—इन तीन गुणस्थानोंमें पाए जानेवाले जीव, **आर्त-रौद्र-अशुभ संधानस्य अधिकारिणः**—आर्त और रौद्र दोनों अशुभ ध्यानके ही पालक हैं ॥ ९७ ॥

तथा अविरत सद्दृष्टौ—और चतुर्थ गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टिमें और, **विरताविरते अपि च**—देशविरत नामक पंचम गुणस्थानमें, **धर्म्यध्यानं गौणं जगुः**—धर्मध्यान गौणरूपसे पाया जाता है। **प्रमादिति च संयते**—प्रमत्तसंयत नामक छठें गुणस्थानमें धर्मध्यान प्रमुख है, पर कदाचित् आर्त-ध्यान भी पाया जाता है, किन्तु रौद्रध्यान नहीं हैं ॥ ९८ ॥

अप्रमत्तादिषु—अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें, **धामसु**—अप्रमत्तादि गुण-स्थानोंमें, **तदेव मुख्य वृत्त्या**—धर्मध्यान मुख्य रूपसे पाया जाता है, **शमक**

क्षपक श्रेण्यः—उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणीके शुभ स्थानोंमें, **क्रमात् आद्यं शुक्लद्वयं**—क्रमसे दोनों शुक्लध्यान पाए जाते हैं ॥ ९९ ॥

सूक्ष्म क्रियम् समाध्यास्ते—सूक्ष्मक्रिया शुक्लध्यान नहीं पाया जाता है। **स योगी योगिनां वरः**—वह योगी समस्त योगियोंमें श्रेष्ठ है यह सर्वज्ञ तेरहवें गुणस्थानवर्ती योगी है। **समुच्छिन्न क्रियम्**—जिनकी समस्त यौगिक क्रियायें समाप्त हो जाती है वे, **योगवर्जितः**—अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती, **परमेश्वरः**—परमेश्वर है ॥ १०० ॥

सिद्धात्मा ध्यान कर्तारः—सिद्ध भगवान् ध्यानके कर्ता नहीं हैं, वह अवस्था ध्यानके फलस्वरूप है, **न गुणस्थान वर्तिनः**—वे सभी गुणस्थानोंको पार कर चुके है अतः कोई गुणस्थान भी उनके नहीं है **अष्टः-आत्म-गुणसम्पन्नः**—वे आठ कर्मोंके नाशसे आठ गुणोंको प्राप्त कर चुके हैं, **अनष्टात्मगुणाः परं**—अब इन आठ गुणोंका अनन्त काल तक कभी नाश न होगा—सदा रहेंगे ॥ १०१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र—इन तीन गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंके आर्तध्यान और रौद्रध्यान होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत—इन तीन गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान तो होता है परन्तु गौण-रूपसे होता है और अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें वह मुख्यरूपसे होता है। तथा उपशम श्रेणीमें पृथक्त्ववितर्कवीचार और क्षपकश्रेणीमें एकत्ववितर्क-वीचारनामका शुक्लध्यान होता है। सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान होता है। जो जीव चौदहों गुणस्थानोंको अतिक्रांत कर जाते है वे सिद्ध हो जाते हैं। उनसे न तो किसी प्रकार का कोई ध्यान ही होता है और न गुणस्थान ही। उनके तो सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्रकट हो जाते हैं और ये आत्मिकगुण कभी नष्ट नहीं होते, सदा काल जैसे के तैसे बने रहते हैं ॥ ९७-१०१ ॥

अन्य प्रकारसे ध्यानके भेद—

चतुर्विधध्यानविधिः प्रसिद्धो यथायमन्योऽपि तथाप्रकारः ।
पिंडास्पदं नाम पदास्पदं च रूपास्पदं रूपविवर्जितं च ॥१०२॥
त्रीण्यत्र सालंबनभावभाजि ध्यानं निरालंबनमंत्यमेकं ।
सालंबनाभ्यासनिबद्धलक्ष्यो भवेन्निरालंबनयोगयोग्यः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—यथा अयम् ध्यान-विधिः प्रसिद्धः—जैसे ये चार ध्यान प्रसिद्ध हैं, **तथा-अन्य-अपि प्रकारः**—इसी तरह ध्यानके अन्य प्रकार से भी चार भेद हैं। **पिंडास्पदं नाम पदास्पदं च**—१. पिंडस्थ २. पदस्थ ध्यान, **रूपास्पदं रूपविवर्जितम् च**—३. रूपस्थ और ४. रूपरहित (रूपातीत) ध्यान ॥ १०२ ॥

अत्र त्रीणि सालंबन भांजि—इनमेंसे १, २, ३ ध्यान तो आलम्बन लेकर होते हैं किन्तु, **अन्त्यम् एकं निरालंबं**—अन्तिम रूपातीत ध्यान आलम्बन रहित है। **सालंबन-अभ्यास निबद्ध लक्ष्यः**—जो साधु सालम्बन ध्यान के द्वारा लक्ष्यको ध्याता है वही, **निरालंबनयोग योग्यः**—निरालम्बन ध्यानके करने में समर्थ होता है ॥ १०३ ॥

अर्थ—ध्यानके जिसप्रकार आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल-ये चार भेद बतलाये हैं उसीप्रकार उसके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित (रूपातीत) —ये चार भेद भी हैं। और इन चार प्रकारके ध्यानोंमें आदिके तीन ध्यान अर्थात् पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीन अवलम्बन सहित हैं। इनमें किसी न किसी पदार्थका उनके स्वरूप विचारने के लिये अवश्य अवलम्बन करना पड़ता है। परन्तु चौथा रूपवर्जित ध्यान निरालम्बन है। इसमें किसी पदार्थका अवलम्बन नहीं रहता तथा जो मुनि प्रथम सालम्बन ध्यानोंका अभ्यास करता है वही निरालम्बन ध्यानके योग्य होता है। अर्थात् बिना पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान किये कभी रूपवर्जित ध्यान नहीं हो सकता ॥ १०२-१०३ ॥

पिण्डस्थ ध्यानकी विधि—

तरुणतरणिश्रेणीदीप्तप्रभावलयोऽपि स-
न्नमृतजलधावुत्कल्लोलैर्मनःस्नपयन्निव ।
जगदधिपतिर्ध्येयो मध्ये स्वपिंडमखंडितं
स्थिरपरिणतिं पिंडस्थाख्यं समाधिमधिष्ठितैः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—तरुण-तरणि-श्रेणी-ग्रीष्मके मध्याह्न कालमें जो सूर्य प्रकाशमान होता है वैसी ही अनेक सूर्यों की श्रेणीकी, **दीप्त प्रभावलयः अपि**—जैसी प्रचण्ड दीप्ति, उसके समान है प्रभामण्डल जिसका ऐसे, **स्वपिंडम्**—अपने आत्मपिण्डको, **अमृत जलधौ मध्ये**—अमृतके भरे हुए समुद्रमें, **उत्कल्लोलैः**—जिसमें लहरोंका उछाल हो रहा है, **मनः स्नपयत् इव**—अपने मनको स्नान कराते हुए की तरह, **अखंडितम्-स्थिर परिणतिं**—एक रूप स्थिर रूप,

समाधिम्—समाधिमें, **अधिष्ठितैः**—स्थित होकर, **जगत् अधिपतिः**—जगत्का स्वामी अपनी आत्मा, **ध्येयः**—ध्येय बनाकर जो ध्यान करता है वह, **पिण्डस्थाख्यम् ध्यानम्**—पिण्डस्थ नामक ध्यान है ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो मुनि अखंड और निश्चल पिंडस्थध्यानका आचरण करना चाहते हैं उन्हें अपने शरीरके अंदर मध्याह्नकालके अनेक सूर्योंकी दीप्तिके समान देदीप्यमान भी जगत्का स्वामी आत्मा अमृत समुद्रमें, उसकी मनोहर तरंगोंसे मनको स्नान कराता है ऐसा चिंतवन करना चाहिये।

भावार्थ—जिस समय मुनि अपने शरीरके अंदर यह मानकर कि मेरा आत्मा अखंड तेजका राशि है और निराकुलतामय सुखमें गोता मार रहा है, ध्यान करता है उस समय उसके पिंडस्थध्यान होता है ॥ १०४ ॥

पिण्डस्थ ध्यानकी दूसरी विधि—

शशधरकलाक्रांतं बीजाक्षरं परमेष्ठिनः
क्षरदविरलानंदस्रोतोरसायन-संस्नुते ।
हृदयकमले नाभ्यंभोजे शिरःसरसीरुहे
दधति सुधियः पिंडस्थोऽयं समाधिरथापरः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—**अथ**—इसके अनंतर, **परमेष्ठिनः**—पांचों परमेष्ठीके वाचक, **शशधरकला आक्रांतम्**—चन्द्रमाकी कलासे युक्त, **बीजाक्षरम्**—बीजाक्षरको अर्थात् "ओं" इस बीजाक्षरको, **क्षरत्-अविरल-आनंद स्रोत रसायनेसंस्नुते**—झर रहा है निरन्तर आनन्दका स्रोत रूपी रसायनमें स्नान किए हुए ऐसे रूपमें अपनेको, **हृदयकमले**—हृदयरूपी कमलमें अथवा, **नाभि अम्भोजे**—नाभिरूपी कमलमें या, **शिरः सरसीरुहे**—मस्तकरूपी कमलमें, **ये सुधियः**—जो बुद्धिमान्, **दधति**—धारण करते हैं अर्थात् ऐसा ध्यान करते हैं, **अयं अपरः पिण्डस्थः समाधिः**—यह दूसरे प्रकारका पिण्डस्थ ध्यान समाधि है ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मुनिगण, चंद्रमाकी कलाके समान कलावाले परमेष्ठी (अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) के वाचक 'ओं' इस बीजाक्षरको, निरंतर झरते हुये अनुपम आनंदमयी रससे व्याप्त अपने हृदयकमलमें वा नाभिकमल और ललाट कमलमें धारण करते हैं उनके भी पिंडस्थध्यान होता है तथा यह पिंडस्थध्यान पूर्वोक्त पिंडस्थध्यानसे भिन्न है—यह दूसरा पिंडस्थध्यान है।

भावार्थ—कमलकी स्थापना हृदय, नाभि और ललाटमें की जाती है। इसलिये जो मुनि हृदय, नाभि, या ललाट किसी स्थानपर कमलकी रचनाकर बड़े उत्साह और आनंदसे 'ओं' इस बीजाक्षरको उस कमलमें स्थापितकर ध्यान करता है उसके भी पिंडस्थ नामका ध्यान होता है ॥ १०५ ॥

पिण्डस्थध्यानकी तीसरी विधि—

निश्शेषधातुरहितोज्ज्वलदिव्यदेह ।
मुन्मीलदस्खलितकेवलसत्प्रकाशं ॥
आत्मानमार्हंतकलाकलितं विचिन्वन् ।
पिंडस्थमन्यतममेतदुपैति योगी ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—**योगी**—जो योगी, **निःशेषधातु रहित**—सम्पूर्ण सप्तधातु रहित, **उज्ज्वल दिव्यदेहम्**—निर्मल दिव्य शरीर रूप तथा, **उन्मीलत्-अस्खलित केवल-सत्-प्रकाशम्**—प्रकट-स्थिर-केवलज्ञानका जिसमें प्रकाश प्रकट हुआ है इस प्रकार, **आर्हंत् कला कलितम्**—अर्हन्त भगवान्‌की सम्पूर्ण कलाओं सहित, **आत्मानं**—अपनी आत्माको, **विचिन्वन्**—विचार करता हुआ-चिन्तन करता हुआ, **अन्यतमम्**—एक भिन्न प्रकारके, **एतत् पिण्डस्थम् उपैति**—इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका ध्याता होता है ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो योगी इस बातका ध्यान करता है कि मेरा शरीर रक्त, मज्जा आदि निंदित धातुओंसे रहित दिव्य है और आत्माको अखंड केवलज्ञानरूपी प्रकाशसे देदीप्यमान और अर्हन्तोंकी समस्त कलाओंसे भूषित मानता है उसके भी एक प्रकारका पिंडस्थ-ध्यान होता है ॥ १०६ ॥

पदस्थध्यानका स्वरूप—

यदक्षरं पदं वाक्यमंतर्जल्पस्थिरीकृतं ।
ध्येयनामांकितं किंचित्स समाधिः पदास्पदः ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ—**यत् अक्षरं-पदं-वाक्यं**—जिस अक्षर-पद या वाक्यको, **अन्तर्जल्पस्थिरीकृतम्**—केवल मनमें जपकर स्थिर करना, **ध्येयनामांकितम्**—उक्त ध्येयके नामसे अंकित, **सः किंचित्**—वह किंचित् ध्यान, **पदास्पदः समाधिः**—पदास्पद-पदस्थ स्थान है ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिस पदार्थका ध्यान किया जाय उसके अंकित किसी अक्षर, पद या वाक्यको अपने चित्तमें स्थिर कर विचार करना पदास्पद-पदस्थ ध्यान कहा जाता है।

भावार्थ—अ, सि, आ, उ, सा, ओं आदि अक्षर परमात्मा-पंच परमेष्ठीके वाचक हैं। इनमें जिसका ध्यान करना हो उसीके वाचक अक्षर, पद, या वाक्य-को अपने हृदयमें निश्चयकर तो मुनि उसीका ध्यान करता है उसके पदस्थ ध्यान होता है ॥ १०७ ॥

पंच परमेष्ठी वाचक—अ, सि, आ, उ, सा, ओम्–इन अक्षरोंका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

१–अरहंत वाचक 'अ' अक्षर का स्वरूप एवं फल—

अनंतोऽनंतबोधर्द्धेरधीशस्यातिशायिनः ।
अकारो लक्षकः साक्षादर्हंतः परमेष्ठिनः ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—**अकार**—"अ" अक्षर, **अनन्तानन्त बोधर्द्धेः**—अनंतानंत ज्ञानरूपी-केवलज्ञानरूपी ऋद्धिके धारक, **अतिशायिनः ईशस्या**—अतिशय-वान्, **अर्हंत् परमेष्ठिन लक्षकः**–अर्हन्त भगवान्का लक्ष्य करानेवाला है ॥१०८॥

अर्थ—अविनाशी, अनंतज्ञानरूपी ऋद्धिके धारक, सबके स्वामी, सर्वो-त्कृष्ट, परमपदके धारक भगवान् अर्हंतको साक्षात् बतलानेवाला अक्षर—'अकार' है अर्थात् अकारका उच्चारण करते ही अर्हन्त परमेष्ठीका ज्ञान हो जाता है ॥ १०८ ॥

२–'सि' सिद्ध वाचक है—

सिद्धयति स्म स्वभावेन सेधति स्म गतिं परां ।
सिद्धो देवः सिकारस्थो योगिनां सिद्धिसाधकः ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ—इसी तरह, **सिकारस्थः**–"सि" अक्षरमें स्थित, **सिद्धो देवः**—सिद्ध परमेष्ठी हैं क्योंकि, **स्वभावेन सिद्धयतिस्म**—अपने स्वभावकी सिद्धि-को प्राप्त कर चुके हैं, **पराम् गतिम् सेधते स्म**—परम श्रेष्ठ सिद्धगति (पद) को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए यह "सि" अक्षर, **योगिनाम्**—योगीजनोंको भी सिद्धिदायक है ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो स्वभावसे ही सिद्धपदको प्राप्त हुआ था। जिसने उत्तम गति-का भी लाभ किया था और जो योगियोंको सिद्धि मोक्ष प्रदान करनेवाला है वह सिद्ध परमात्मा हैं एवं उसका परिचायक अक्षर 'सि' है अर्थात् वह 'सि' अक्षरसे पहचान लिया जाता है ॥ १०९ ॥

३–'आ' आचार्य वाचक है—

आचाराधारधुर्यान् ज्ञानैश्वर्येण संयुतान् ।
आकारो बोधयत्येष आचार्यान्संघनायकान् ॥ ११० ॥

अन्वयार्थ—आचार्यान् संघनायकान्—मुनि संघोंके अधिनायक, **आचाराधारधुर्यान्**—आचारवान् एवं आधारवान् आचार्योंमें श्रेष्ठ अथवा आचारके श्रेष्ठ आधार, **ज्ञानैश्वर्येण संयुतान्**—ज्ञानके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे युक्त-सकल आगमके ज्ञाता ऐसे आचार्योंका वाचक, **आकारः**—'आ' अक्षर, उनका ज्ञान कराता है ॥ ११० ॥

अर्थ—आचारके धारण करनेवालोंमें अतिशय उत्तम ज्ञान और ऐश्वर्यसे मंडित, संघके स्वामी आचार्योंका परिचायक अक्षर 'आकार' है अर्थात् आकारसे आचार्योंका बोध होता है ॥ ११० ॥

४–'उ' अक्षर उपाध्याय वाचक है—

उपदेष्टारः उत्कृष्टा उदात्ता उन्नतिप्रदाः ।
उपाधिरहिता ध्येया उपाध्याया उकारतः ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ—उत्कृष्टा उदात्ताः—जो उत्कृष्ट हैं परोपकारी हैं, **उन्नतिप्रदाः**—उन्नति प्रदान करने वाले, **उपाधि रहित**—सर्व परिग्रह रहित, **उपदेष्टारः**—उपदेशदाता योगिजन हैं उनका, **उकारतः**—'उ' अक्षर, **ध्येयाः उपाध्यायाः**—ध्येय उपाध्याय परमेष्ठी हैं ॥ १११ ॥

अर्थ—समीचीन उपदेश देनेवाले, उत्कृष्ट, अतिशय तेजस्वी, उन्नति प्रदान करनेवाले और बाह्य-आभ्यंतर दोनों प्रकारकी उपाधियोंसे रहित उपाध्याय कहे जाते हैं और उनका उकारसे चिंतवन करना चाहिये अर्थात् उपाध्यायका वाचक 'उकार' अक्षर है ॥ १११ ॥

५—'सा' साधु वाचक है—

साधारणा रिपौ मित्रे साधकाः स्वपरार्थयोः ।
साधुवादास्पदीभूताः साकारे साधकाः स्मृताः ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ—जो. **रिपौ मित्रे च साधारणाः**—शत्रु-मित्रमें समभावी, **स्वपरार्थयोः साधका**—स्व-पर उपकार करनेवाले हैं, **साधुवादास्पदीभूताः**—सबके सराहने योग्य हैं ऐसे, **साधकाः**—आत्मसाधक साधुजन, **साकारे स्मृताः**—'सा' शब्दसे ग्रहण किए जाते हैं ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो महात्मा मित्र और शत्रुओंमें समान हैं अर्थात् मित्रोंमें तो राग नहीं करते और द्वेषियोंसे द्वेष नहीं करते। अपने पराये दोनोंके प्रयोजन सिद्ध करनेवाले हैं और जो साधुवादके स्थान हैं अर्थात् जिनकी सब लोग प्रशंसा करते हैं वे साधु हैं उनका परिचायक अक्षर 'सा' है। अर्थात् 'सा'से साधुओं-का ग्रहण होता है॥ ११२॥

अ-सि-आ-उ-सा–इस मन्त्र के निरन्तर ध्यान से पंचमगति की प्राप्ति—

अ-सि-आ-उ-साक्षराणि क्षरंति न क्षणमपीह वै क्षेपात्।
पंचापि यस्य मनसः स पंचमीं याति गतिमचिरात्॥ ११३॥

अन्वयार्थ—**यस्य मनसः**—जिस सज्जनों के मन से, **अ-सि-आ-उ-सा**—अरहन्त का 'अ', सिद्धों का 'सि', आचार्यों का **आ**, उपाध्यायों का 'उ', साधुओं का—'सा'—ये पाँचों परमेष्ठी वाचक पाँचों प्रथमाक्षर, **क्षणम् अपि न क्षरन्ति**—क्षणभर को भी नहीं छूटते अर्थात् सदा स्मरण रहते हैं, **स**—वह व्यक्ति, **अचिरात्**—शीघ्र ही, **पंचमीम् गतिम् याति**—पञ्चमी गति अर्थात् मोक्ष गति को प्राप्त होता है॥ ११३॥

अर्थ—जो महानुभाव अ, सि, आ, उ, सा,—इन पाँच अक्षरोंको अपने मनसे क्षण भर के लिये भी दूर नहीं करता–प्रतिक्षण जो इन्हींका विचार करता रहता है वह शीघ्र ही पांचवीं गतिको प्राप्त होता है अर्थात्—उसे निराकुलतामय मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है॥ ११३॥

'ओम्' प्रणव मन्त्र भी पञ्चाक्षर समुदाय है जो पाँच परमेष्ठी वाचक है—

अर्हद्देहाचार्योपाध्यायमुनीश्वरादिवर्णोत्थः।
प्रणवो हृदि प्रणीतः स्मरयत्येकोऽपि पंचगुरून्॥ ११४॥

अन्वयार्थ—**अर्हत्-अदेह-आचार्य-उपाध्याय-मुनीश्वर आदि वर्णोत्थः**—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनीश्वर-इन सबके प्रथमवर्ण से निर्मित, **एक अपि प्रणवः**—एक अक्षर 'ओं' शब्द, **यदि हृदि प्रणीतः**—यदि मन में स्मरण किया जाय तो, **पञ्चगुरून् स्मरति**—तो पाँचों परमेष्ठियों का स्मरण कराता है॥

अर्थ—अर्हंत, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनीश्वरोंके अ-अ-आ-उ और म्-इन अक्षरोंसे बना हुआ 'ओम्' यह मंत्र है। यदि इसे हृदयमें धारण किया जाय तो यह अकेला ही पांच गुरुओंका स्मरण करा देता है

अर्थात् केवल ओंकारके ध्यानसे ही पाँचों परमेष्ठियोंका ध्यान हो जाता है ॥ ११४ ॥

सिद्धिके लिए रत्नत्रयमय ओंकार का ध्यान करना चाहिए—

आलोकेनोपलंभेन मुनित्वेन च साधितः ।
ओंकार सिद्धये ध्येयो रत्नत्रयमयोऽञ्जसा ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ—आ आलोकेन—'आ' के आलोक में अर्थात् अ-अ-आ इन तीन परमेष्ठियों के आद्याक्षर से बना 'आ' शब्द में तथा, **उपलंभेन**—उ शब्द उपाध्याय का मिलाने पर और, **मुनित्वेन**—मुनि शब्द के म् से, **साधितः**—सिद्ध किया गया, **ओंकार**—'ओं' शब्द, **रत्नत्रयमयः**—स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है अतः, **सिद्धये अञ्जसा**—सिद्धि प्राप्ति करने के लिए, **ध्येयः**—निरन्तर अवश्य ध्यान करना चाहिए ॥ ११५ ॥

अर्थ—अर्हंतका अ, अशरीरका अ और आचार्यका आ इन तीनोंकी संधिसे सिद्ध 'आ' अक्षरसे, उपाध्यायके 'उ' अक्षरसे और मुनिके 'म्' अक्षरसे ओंकारकी सिद्धि होती है तथा यह ओंकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र स्वरूप है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये इसका अवश्य ध्यान करना चाहिये अर्थात् ओंकारका ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥११५॥

'ओम्' अक्षर त्रिलोकका भी वाचक है—

अधोलोकस्याद्यावयवमवनेरूर्ध्वजगतः
स्वयं पिंडीकृत्योपरि शशिकला निर्वृतिशिला ।
तदूर्ध्वं सिद्धालो लसदमृतबिंदूज्ज्वलशिखा
निधाय ध्यायेयं प्रणवमिति लोकत्रयमयं ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थ—अधोलोकस्य अवनेः ऊर्ध्वं जगतः—अधोलोक-अवनि-मध्य लोक तथा ऊर्ध्वलोक के, **आद्यावयवम्**—आदि अक्षर को, **पिण्डीकृत्य**—एकत्र करने पर, **स्वयं तस्य उपरि**—और स्वयं उसके ऊपर, **शशिकला निर्वृति शिला**—चन्द्रमा की कला के समान सिद्धशिलाको बनाओ, **तदूर्ध्वम्**—उसके ऊपर, **लसत् अमृत बिंदु उज्जवल शिखा**—देदीप्यमान् अमृत बिन्दु रूप उज्जवल बिन्दु, **निधाय**—रखने से, **प्रणवम्**—'ओं' शब्द बनेगा वही प्रणव अक्षर है जो, **लोकत्रयमयम्**—तीन लोक स्वरूप है उसका भी **ध्यायेयं**—ध्यान किया जाना चाहिए ॥ ११६ ॥

अर्थ—अधोलोकका आदि अक्षर 'अ', अवनि (मध्यलोक) का आदि अक्षर 'आ' और ऊर्ध्वलोकका आदि अक्षर 'ऊ'–इन तीनोंको संधिकर ओंकार मंत्रका 'ओ' इतना भाग सिद्ध हो जाता है तथा इसके ऊपर जो यह अर्धचन्द्राकार चिह्न है वह सिद्धशिला है और उसके ऊपर जो अनुस्वार-बिंदु रक्खी है वह सिद्धोंकी पंक्ति है। इसप्रकार यह ओंकार तीनों लोकमय है–ऐसा विचारकर इसका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—मनके स्तंभनके लिये मुनिगण तीनोंलोकके स्वरूपका ध्यान करते हैं, पीछे वे शुक्लध्यानके पात्र कहे जाते हैं। परंतु यह ओंकार ही तीनों लोक स्वरूप है इसलिये इसका ध्यान करना भी तीनलोकका ध्यान करना कहा जाता है। क्योंकि तीनलोकके ध्यानमें अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, सिद्धशिला और सिद्धोंका ध्यान किया जाता है। ओंकारके ध्यानसे भी इन सब बातोंका ध्यान हो जाता है अर्थात् ओंकारका 'ओ' भाग अ, आ और ऊ—इनकी संधि करनेसे सिद्ध होता है। क्योंकि वहां अकारसे अधोलोक, दूसरे अकारसे अवनि-मध्यलोक और ऊकारसे ऊर्ध्वलोकका ग्रहण किया गया है। उसके ऊपर रक्खा हुआ (ँ) यह चिह्न सिद्धशिला है। क्योंकि सिद्धशिला आधे चंद्रमाके आकार बतलाई है और यह चिह्न भी आधे चंद्रमाके आकार है तथा सिद्ध अशरीर अर्थात् शून्य सरीखे होते हैं। इसलिये इस चिह्नके ऊपर रखे हुए शून्यसे सिद्धोंका ग्रहण है॥ ११६॥

'ओम्' शब्द पाँच ज्ञान रूप भी है—

अभिनिबोधकेन सममागममवधिमनः सपर्ययं
संयोज्याथ बोधमुत्कृष्टं केवलनाम निर्मलं।
अमृतकलालयं च मोक्षाक्षरमुपरि नियोज्य विरचितः
प्रणवःपंचबोधफलनिचयं रचयतु पाञ्चबोधिकः॥ ११७॥

अन्वयार्थ—**अभिनिबोधकेन** सम्—अभिनिबोध–मतिज्ञान का 'अ' तथा, **आगम-अवधि**—दोनों ज्ञानोंका आद्य अक्षर आ+अ और, **मनः सपर्ययं**–मनःपर्यय-अन्तःकरण ज्ञानका 'अ' ऐसे चार ज्ञानके अ+आ+अ+अ तथा, **उत्कृष्ट निर्मलम् केवल बोधम् संयोज्य**—उत्कृष्ट जो केवलज्ञान उसका आदि अक्षर 'उ'–इन सबकी संधि करने पर 'ओ' शब्द बनेगा उसके, **उपरि**—ऊपर, **अमृत कलालयम् मोक्षाक्षरम्**—अमृत कला स्वरूप मोक्षका आदि अक्षर 'म' को भी, **नियोज्य विरचितः**—ऊपर रखकर बनाया गया, **प्रणवः**—ओंकार शब्द,

पाञ्चबोधिकः—पांच ज्ञान वाचक है जिसका, **पञ्चबोधफल निचयं**—पांच ज्ञान प्राप्त होना फल है उसे, **रचयतु**—बनाकर, 'ओं'का ध्यान करो ॥११७॥

अर्थ—यह ओंकार पांच ज्ञान स्वरूप भी है क्योंकि अभिनिबोध (मतिज्ञान) का अ, आगम (श्रुतज्ञान) का आ, अवधिज्ञानका अ, अंतःकरणज्ञान (मनपर्ययज्ञान)का अ, और अतिशय निर्मलज्ञान–केवलज्ञानका 'उत्कृष्ट' यह नाम निक्षेपकर उ, इन सबका ग्रहणकर और आपसमें उनकी संधिकर ओंकारका 'ओ' भाग सिद्ध हो जाता है तथा अमृतमय मोक्षका 'म्' ग्रहणकर और सबको एकसाथ मिलाकर बोलनेसे 'ओंकार' मंत्र बन जाता है एवं इसके पांचज्ञान स्वरूप होनेके कारण पांच ज्ञानोंका जो फल होता है वही इससे होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मतिज्ञानके ध्यानसे मतिज्ञानका फल श्रुतज्ञानसे श्रुतिज्ञानका, अवधिज्ञानसे अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानसे मनःपर्ययज्ञानका, केवलज्ञानसे केवलज्ञानका और पांचों ज्ञान से पांचोंका फल मिलता है उसी प्रकार ओंकारमंत्रके ध्यानसे भी पांचोंका फल मिलता है क्योंकि यह ओंकार अ, आ, अ, उ, और म् के आपसमें मिलनेपर सिद्ध होता है अतः यहां अभिनिबोधक–मतिज्ञानका अ, आगम–श्रुतज्ञानका आ, अवधिज्ञानका अ, अंतःकरण–मनःपर्ययज्ञानका अ, उत्कृष्ट–केवलज्ञानका उ, और मोक्षका म् इन्हें ग्रहणकर और उन सबकी व्याकरणशास्त्रके अनुसार आपसमें संधिकर ओंकार बनता है। इसलिये यह ओंकार भी मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानस्वरूप है ॥ ११७ ॥

'अर्हं' मंत्र रत्नत्रयका वाचक है—

अकारोयं साक्षादमृतमयमूर्तिः सुखयति
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं स कलयति ।
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा
स्मरेदेवं बीजाक्षरमभिन्नाक्षरपदं ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ—**अयं अकारः**—यह अर्हं पद का आकार, **साक्षात् अमृतमय मूर्तिः**—प्रत्यक्ष ही आनन्ददायक अमृतकी मूर्तिके, **सुखयति**—समान सुख देती है, **स्फुरद्रेफः**—उस महामंत्रके ऊपर जो रेफ है, **स**—वह रेफ, **अविकलम्-रत्नत्रयम् कलयति**—सम्पूर्ण रत्नत्रय स्वरूपको प्राप्त कराती है, **हंकारः**—'हं' शब्द, **दुरित निवहं सम सहसा हंति**—समस्त पापोंका एक बार ही नाश करता है, एवं **अभिन्नाक्षरपदम्**—इस प्रकार

सभी कथित वर्णोंको मिलाकर जो, **बीजाक्षर**—'अर्हं' बीजाक्षर बनता है उसका, **स्मरेत्**—स्मरण करे-चिन्तन करे ॥ ११८ ॥

अर्थ—यहां पर 'अर्हं' इस बीजाक्षर मंत्रके प्रत्येक अक्षरका इस प्रकार फल बतलाया है—अर्हं इस बीजाक्षरमंत्रमें जो अकार है वह साक्षात् अमृतमय-निराकुलतामय सुखकी मूर्ति है और जो इस मंत्रको सिद्ध करते हैं उन्हें सुख प्राप्त होता है। रेफ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप है और 'हं' यह शब्द समस्त पाप और मोहको मूलसे नष्ट करनेवाला है तथा अ र हं-इन अक्षरोंको आपसमें मिलाकर अर्थात् 'अर्हं' ऐसा एक साथ उच्चारण कर इसका स्मरण करना कल्याणकारी है।

भावार्थ—जिसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं और उनके फल भी अतिशय कल्याणकारी और जुदे हैं परंतु मोक्षकी प्राप्ति इन तीनोंकी एकतासे ही होती है केवल सम्यग्दर्शन वा सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र मोक्षको नहीं प्राप्त करा सकता उसी प्रकार 'अर्हं' इस मंत्रमें अकार, रकार और 'हं' शब्दके फल जुदे जुदे और उत्तम हैं परंतु अभीष्टकी सिद्धि इन तीनों अक्षरोंके समुदायस्वरूप 'अर्हं' इस मंत्रके जपनेसे ही होती है इसलिये जो मनुष्य अभीष्टकी सिद्धि करना चाहते हैं उन्हें 'अर्हं' ऐसे मंत्रका आराधन करना चाहिये ॥ ११८ ॥

अर्हं में अकारादि हकारांत सम्पूर्ण शब्दब्रह्माका समावेश है—

दधति वसंतिं मध्ये वर्णा अकारहकारयो-
रिति यदनघं शब्दब्रह्मास्पदं मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां बिभ्रद्विंदूज्ज्वलां रचितार्चिषं
ध्वनयति परंब्रह्मध्यानं तदस्तु पदं मुदे ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ—**अकार-हकारयोः**—यह अर्हं मंत्र अकार और हकार के, **मध्ये**—मध्यसे, **वर्णाः**—जितने वर्ण है, **वसतिम् दधति**—उनको निवास देता है। अर्थात्—'अ'से लेकर 'ह' तककी सभी वर्णमाला समायी हुई है, **इति**—इस प्रकार, **यत् अनघं शब्द ब्रह्मास्पदं**—जो निर्दोष शब्द ब्रह्माका स्थान रूप है, **इति मुनयः जगुः**—ऐसा मुनिजन कहते हैं, **'र' चिता अर्चिषम्**—'र' वर्णसे संचित है किरणें जिसकी, तथा, **विभ्रत् विन्दु उज्जवलाम्**—बिन्दुसे शोभायमान, **यत् अमृतकलाम्**—अपनी अमृत कलाको, **ध्वनयति**—बता रहा है, **तत् पदम् मुदे अस्तु**—वह अर्हं पद आनन्ददाता हो ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिसके अकार और हकार अक्षरोंके मध्यमें समस्त वर्णमाला वास करती है और इसीलिये जिसको मुनिगणोंने शब्दब्रह्मका आस्पद बतलाया हैं एवं जो रेफसे व्याप्त अमृतकला अर्धचन्द्राकार बिन्दुसे युक्त होकर परब्रह्मके ध्यानको प्रकट करता है वह अर्हं मंत्र हमें आनन्द प्रदान करे।

भावार्थ—'अर्हं' इस मन्त्रमें, अ, र, ह, और अनुस्वार-बिन्दु—ये चार वर्ण हैं। इनमें अ और ह तो शब्द ब्रह्माको बतलाते हैं क्योंकि अ अक्षरसे लगाकर ह अक्षर पर्यन्त समस्त स्वर व्यंजन आ जाते हैं और वे ही शब्द शास्त्रमें ब्रह्म नामसे कहे गये हैं तथा जो रेफ सहित अर्धचन्द्राकार बिन्दु है वह परब्रह्म—परमात्मा सिद्धगणका ज्ञान कराती हैं क्योंकि सिद्ध अर्द्धचन्द्राकार सिद्ध शिलापर विराजमान रहते हैं, देदीप्यमान हैं और शून्य—अशरीर हैं। इसलिये ऐसा शब्दब्रह्म और परब्रह्माका ज्ञान करानेवाला अर्हं मन्त्र हमारा कल्याण करे—यह प्रार्थना है॥ ११९॥

'अर्हं' मंत्रकी आराधना मोक्षदायिनी है—

यस्मिन् रविस्फुरणमुद्दलितांधकार-
मिंदोरुदेत्यमृतबिंदुमती च लेखा।
तस्मिन्नियत्यकलिताद्यवसानसोम्नि
धन्याः प्रविश्य किल मोक्षपदं लभंते॥१२०॥

अन्वयार्थ—यस्मिन्—जिस पदमें, **उद्दलित अंधकारं**—अंधकारको नाश करनेवाले, **रवि स्फुरणम्**—सूर्यका प्रकाश है, **इन्दोः**—चन्द्रमाकी, **अमृतबिन्दुमति च लेखा उदेति**—अमृत बिन्दु समान लेखा है, **तस्मिन्**—उस, **वियति**—आकाशके समान, **अकलित आद्य अवसान सोम्नि**—जिसकी आदि अन्त रूप सीमा नहीं है ऐसे महामंत्र 'अर्हं' मंत्रमें, **धन्याः**—धन्य पुरुष, **किल**—निश्चयसे, **मोक्षपदे लभन्ते**—मोक्षकी पदवी प्राप्त करते हैं॥ १२०॥

अर्थ—यह 'अर्हं' मंत्र एक प्रकारका विस्तीर्ण आकाश है क्योंकि आकाशमें जैसा अंधकारको नाश करनेवाले रविका स्फुरण, सूर्यका स्फुरण है उसी प्रकार 'अर्हं' इस मंत्रमें भी रेफका विस्फुरण है और इस रेफका फल अंधकारका नाश होना है। जिस प्रकार आकाशमें चंद्रमाकी अमृतमयी रेखाका उदय होता है उसी प्रकार अर्हं इस मंत्रमें भी शांतिप्रदान करनेवाली बिंदुसे उज्ज्वल चंद्राकार रेखा, मौजूद है। जिस प्रकार आकाशकी सीमा अकलित-अपरिमित है, न उसकी आदि है और न अंत है उसी प्रकार 'अर्हं' इस मंत्रकी

आदि और अंतकी सीमा भी अकलित-अकारसे कलित-सहित है अर्थात् आदि और अंतमें इसके अ है। इसलिये ऐसे अनुपम अर्हं मंत्ररूपी आकाशमें प्रवेश करनेवाले मनुष्य धन्य हैं और वे ही मोक्षपदको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—बहुतसे लोग आकाशका ध्यान किया करते हैं। यदि वे 'अर्हं' इस मंत्रका ध्यान करें तब भी आकाशका ध्यान हो जाता है, क्योंकि जिस प्रकार आकाशमें रविस्फुरण-सूर्यका स्फुरण होता है और उससे अंधकारका नाश होता है उसी प्रकार इस मंत्रमें भी रेफका स्फुरण है और उसका फल अंधकारका नाश है। जिस प्रकार आकाशमें चंद्रमाकी लेखा उदित होती है उसी प्रकार इस मंत्रमें भी बिंदुसहित चंद्रलेखा विद्यमान है। आकाश जिस प्रकार अकलित-अपरिमित सीमाका धारक है उसी प्रकार इस मंत्रराजकी आदि अंतकी सीमा भी अ-कलित-अ से सहित है। इसलिये जो महानुभाव ऐसे अनुपम मंत्रका आराधन करते हैं वे धन्य हैं और उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १२० ॥

'अर्हं' मंत्रकी रेफ रागकी नाशक है—

रागांगवर्जितरसंगतया स्फुरंत्या
ज्योतिःशिखोज्ज्वललसत्कलया सनाथः ।
शब्दोऽनहंकृतिरहं यदि चित्यते चे—
त्सर्वज्ञनाथपदसिद्धिकरस्तदा स्यात् ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—**राग-अंग वर्जित 'र' संगतया**—जो अर्हं शब्द रागादि भाव नाशक रेफकी संगतिसे तथा, **शिखोज्ज्वल लसत् कलया**—अपनी स्वच्छ प्रकाशमान कलाओंसे, **सनाथः**—युक्त, **ज्योतिः**—ज्योति वाले तथा, **अनहंकृतिः**—अहंकारका नाशक, **अहंशब्दः**—यह अहम् शब्द, **यदि चिन्त्यते चेत्**—यदि चिन्तनमें लाया जाय तो, **तदा सर्वज्ञनाथ पद सिद्धि करः**—उस समय वह सर्वज्ञ भगवान्की पदवीकी सिद्धि करानेवाला, **स्यात्**—होता है ॥ १२१ ॥

अर्थ—रागके कारणोंको नष्ट करनेवाले रेफसे युक्त, स्फुरायमान और अखंड ज्योतिकी धारक अर्धचंद्रकलासे शोभित, अहंकारको नाश करनेवाले अर्हं शब्दका अर्थात् अर्हं शब्दका यदि मनके अंदर ध्यान किया जाय तो उससे सर्वज्ञनाथके पदकी सिद्धि अर्थात् मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जिस अर्हं मंत्रका रेफ, रागके कारणोंका नष्ट करनेवाला है और जो (ँ) इस रूपको कलासे शोभित है ऐसे अर्हं मंत्रके ध्यान करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे अनुपम अर्हं मंत्रका अवश्य आराधन करें ॥ १२१ ॥

'ह्रीं' बीजाक्षरका स्वरूप[1]—

अधोग्राग्निभ्यां यद्दृगवगममुद्रामथ कलां
सुकृत्यं संधत्ते नभसि परमात्मानममलं ।
प्रधानं तद्बीजाक्षरमविरतं ध्यायतु बुधः
स्वरा वर्गाः पद्मप्रभृतिरिति शेषः परिकरः ॥१२२॥

अन्वयार्थ—जो 'ह्रीं' पद, **अधोग्राग्निभ्याम्**—नीचे ऊपर दोनों तरफ 'रेफ'से संयुक्त है, **यद् दृगवगममुद्राम्**—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके स्वरूपको कहती है, **कलां सुकृत्यम्**—कलाबिन्दुसे सम्यक्चारित्रको, **नभसि**—आकाश अर्थात् शून्यके द्वारा, **अमलं परमात्मानम् संधत्ते**—निर्मल परमात्माका बोध कराता है, **स्वराः**—अकारादि स्वर और ककारादि, **वर्गाः**—वर्गोंके अक्षर, **पद्मप्रभृतिः**—कमलस्वरूप, **शेषः परिकरः**—उसके परिकर हैं, **तत् प्रधानं बीजाक्षरम्**—उस प्रधान 'ह्रीं' बीजाक्षरको, **बुधः**—विद्वान् लोग, **अविरतम् ध्यायतु**—निरन्तर ध्यान करें ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो ह्रीं[2] मंत्र अपने ऊर्ध्व और निम्न रेफोंसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको, व कला (ँ) से सम्यक्चारित्रको और शून्यसे निर्दोष परमात्माको धारण करता है, तथा जिसका अकारादि स्वर, ककारादि वर्ग और कमल आदि परिकर है ऐसे अनुपम बीजाक्षर ह्रीं[2] मंत्रका विद्वानोंको सदा आराधन करना चाहिये ।

भावार्थ—जिस समय ह्रीं इस मंत्रको किसी कपड़े आदिपर कमलके आकारमें काढा जाता है तो उस समय कमलके आठ दलोंमें अकारादि स्वर और कवर्ग, चवर्ग आदि वर्ग लिखे जाते हैं इसलिये जिस मंत्रका स्वर वर्ग और पद्म आदि परिकर है तथा जो ऊर्ध्व और निम्न रेफोंसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, कलासे सम्यक्चारित्रको और शून्यसे परमात्मा सिद्ध परमेष्ठीको

---

१. ह्रीं बीजाक्षर भी है उसमें भी यह बात होती है इसलिये उसका ध्यान करना भी योग्य है ।

धारण करता है। विद्वानोंको चाहिये कि ऐसे अनुपम बीजाक्षर मंत्रका वे अवश्य आराधन करें अर्थात् हों' इस बीजाक्षर मंत्रके आराधनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और निर्दोष सिद्ध परमात्मा पदकी प्राप्ति होती है ॥ १२२ ॥

अपराजित णमोकार महामंत्रके ध्यानकी प्रेरणा—

अध्येय सिद्धिनगरस्य नमः पुरोग–
नीरागपंचपरमेष्ठिपदप्रयोगः ।
बाह्यांतरंगरिपुचक्रपराजयाय
ध्येयः सुधीभिरपराजितमंत्रराजः ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थ-सिद्धिनगरस्य अध्येय—जो मोक्षकी सिद्धिका मार्ग ही है, **नमः पुरोग**—नमः शब्दपूर्वक जो, **नीरागपञ्च परमेष्ठिपद प्रयोगः**—वीतरागी पांचों परमेष्ठियोंका प्रयोगात्मक है, **बाह्य अंतरंग-रिपु-चक्र पराजयाय**—बाह्य रिपु और अंतरंग रिपु कामादिकके समुदायको पराजित करनेके लिए, **अपराजित महामन्त्रराजः**—अपराजेय पंचनमस्कारात्मक णमोकार मंत्रका, **सुधीभिः**—बुद्धिमान पुरुषोंके द्वारा, **ध्येयः**—ध्यान किया जाना चाहिए ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो मोक्षरूपी नगरके मार्गके समान है जिसमें नमः (णमो) पदके साथ पांचों परमेष्ठीके वाचक पदोंका प्रयोग है ऐसे अपराजितमंत्रका अर्थात्-'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इस मंत्रका बाह्य-अभ्यंतर दोनों प्रकारके शत्रुओंको जीतने के लिये विद्वानों को ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,-इस मंत्रमें अर्हंत आदि पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। इससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। बाह्य-अभ्यंतर दोनों प्रकारके शत्रु समूहका विजय होता है और यह मंत्र किसी मंत्र द्वारा जीता नहीं जा सकता इसलिये अपराजित है। अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये अवश्य इस मंत्रका आराधन करें ॥ १२३ ॥

णमोकार मंत्रकी आराधना निरंतर एवं सर्वत्र करना चाहिए—

स्वपन् जाग्रत्तिष्ठन्नथ पथि चलन्वेश्मनि वसन्
स्खलन् भ्रश्यन् क्लिश्यन् वनगिरिसमुद्रेष्ववतरन् ।

कारान् पंच स्मृतिखनिनिर्वातानिव मनः–
प्रशस्तौ विन्यस्तानिव वहति यः सोऽत्र सुकृती ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—गदस्थ ध्यानका वर्णन समाप्त करते हुए संबोधित करते हैं- **स्वपन्-जाग्रत-तिष्ठन्**—सोते समय, जागते समय, बैठते समय, **पथिचलन्**—मार्गमें चलते समय, वेश्मनि **वसन्**—घरमें रहते हुए, **स्खलन्, भ्रश्यन् क्लिश्यन्**—कहीं स्खलित हो जाय, भ्रष्ट हो जाय, क्लेशित हो जाय, **गिरि, वन-समुद्रेषु अवतरन्**—पर्वत, वन, समुद्रमें प्रवेश करते हुये, **पंच नमस्कारान्**—पंच नमस्कार मंत्रको, **स्मृति खनि निर्वातान् इव**—स्मृति रूपी खानिमें जहाँ वायुका भी प्रवेश नहीं है उस तरह, **मनः प्रशस्तौ विन्यस्तान् इव**—प्रशस्त मनमें रखे हुये की तरह, **यः वहति**—जो मंत्र को हृदयमें धारण करता है, **सः अत्र सुकृती**—वही जीव भाग्यवान-पुण्यवान है ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मनुष्य सोते, जागते, बैठते, मार्गमें चलते, घरमें स्थित होते, स्खलित, भ्रष्ट, क्लिष्ट होते और वन, पर्वत एवं समुद्रोंमें भी पतित होते हुये, प्रसन्न मनसे निश्चल हो पंच नमस्कारमंत्रकी आराधना करता है वह मनुष्य पुण्यवान् कहा जाता है ॥ १२४ ॥

रूपस्थ ध्यानका स्वरूप—

रूपवद्वस्तुति ध्यानं रूपस्थं रूपितं जिनैः ।
रूपादित्यक्तचिद्रूपगोचरं रूपवर्जितं ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ—**रूपवत् वस्तुति**—रूपवान् मूर्तिक पदार्थमें, **ध्यानम्**—जो ध्यान किया जाता है उसे, **जिनैः**—जिनेन्द्र भगवान्ने, **रूपस्थंनिरूपितम्**—रूपस्थ ध्यान कहा है। तथा जो, **रूपादित्यक्त चिद्रूप गोचरम्**—रूपादिसे भिन्न चैतन्य रूप विषयक ध्यान है उसे, **रूपवर्जितम्**— रूपसे रहित अर्थात् रूपातीत ध्यान कहा है ॥ १२५ ॥

अर्थ—जो ध्यान रूपवान् पदार्थका किया जाय वह रूपस्थ कहा जाता है और रूपादिरहित केवल शुद्ध चिद्रूपके ध्यानको रूपवर्जित-रूपातीत नामक ध्यान कहते हैं ॥ १२५ ॥

रूपस्थ ध्यानमें ध्येय वस्तुका स्वरूप—

रक्ताशोकातपत्रत्रयचमरमरुन्मंडलीपुष्पवृष्टि–
स्पष्टोद्यद्दिव्यघोषद्युतिवलयमहासिंहपीठद्युवाद्यैः ।

साश्चर्यैः प्रातिहार्यैर्युगपदतिशयैश्राजमानःसमग्रै–
र्ध्येयः श्रीमंडपांतः प्रणतपदयुगो योगिवृंदैर्जिनेंद्रः ॥१२६॥

अन्वयार्थ—**रक्त अशोक आतपत्रत्रय-चमर-मरुन्मण्डली-पुष्पवृष्टिः**—१. लालवर्णका अशोक वृक्ष, २. तीन छत्र, ३ चंवर, ४. सुगन्धित पवन, ५. पुष्पवर्षा तथा, **स्पष्ट-उद्यत्-दिव्यध्वोय-द्युति वलय**—६. स्पष्ट सुनाई देने-वाली दिव्यभाषा, ७. भामंडल, **महासिंहपीठद्युवाद्यैः**—८.देदीप्यमान सिंहासन आदि, **साश्चर्यैः**—आश्चर्य प्रदान करनेवाले, **समग्रैः प्रातिहार्यैः**—समग्र प्रातिहार्योंसे तथा, **युगपत् अतिशयैः श्राजमानः**—साथ ही अनेक अतिशयोंके साथ विराजमान, **योगिवृंदैः प्रणत पदयुगः**—योगीन्द्रोंके द्वारा भी जिनके चरण पूजे जा रहे हैं, **श्रीमंडपांतः**—समवशरणके श्रीमंडप में विराजमान, **जिनेन्द्रः ध्येयः**—जिनेन्द्रदेव ध्येय है। यह रूपस्थ ध्यान है ॥ १२६ ॥

अर्थ—जो योगी रूपस्थध्यानके आराधन करनेवाले हैं उन्हें—अशोक वृक्ष, तीन छत्र, चमर, सुगंधित पवन, पुष्पवर्षा, दिव्यध्वनि, भामंडल और सिंहासन—इन आठ प्रातिहार्य और चौंतीस प्रकारके अतिशयोंसे मंडित, देव, इंद्र, नरेंद्र आदिसे पूजित, समवसरणमें स्थित भगवान् जिनेंद्रका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—जिस समय भगवान् जिनेंद्र चार घातिया कर्मोंका नाशकर अर्हंत हो जाते हैं उस समय उनके अष्ट प्रातिहार्य, समवसरणकी विभूति और एक मुखका चतुर्मुख दिखना आदि चौंतीस अतिशय प्रकट हो जाते हैं इसलिये जो योगी इस प्रकारके जिनेंद्रका ध्यान करते हैं वे रूपस्थध्यानी कहे जाते हैं ॥ १२६ ॥

रूपस्थ ध्यानका स्वरूप—

मुक्तिश्रीतल्पकल्पारुणरुचिरुचिरोत्तानहस्तांघ्रिपद्मं
पर्यंकं मंदराद्रिद्रढिमपरिवृढप्रौढबंधं दधानः ।
योगींद्रश्चंद्रकांताचलविमलतनुर्निश्चलार्धावमील–
न्नासाग्रन्यस्तनेत्रो मनसि सुकृतिभिर्दृश्यते योगदृष्टया ।१२७।

अन्वयार्थ—**मुक्तिश्री तल्प-कल्प**—मुक्ति रूपी लक्ष्मीके हस्ततलके समान, **अरुण रुचि रुचिर उत्तान हस्तांघ्रिपद्मम्**—रक्त वर्णके मनमोहक ऐसे जिनके हाथ और पाँव, **मंदराद्रि दृढिम-परिवृढ प्रौढ़ बन्धन्**—मेरुपर्वतकी

तरह दृढ़ प्रौढ़ आसनके साथ, **पर्यंक बधानः**—पद्मासनसे विराजमान तथा, **चन्द्रकान्ता चलविमल तनुः**—चन्द्रकान्तमणिके समान निर्मल शरीर है जिनका, **निश्चल अर्धावमीलन् नासाग्रन्यस्तनेत्रः**—निश्चय रूपसे अर्धमीलित नेत्रोंको नासिकाग्र पर लगाने वाले, **योगीन्द्रः**—जिनराज, **योगदृष्टया मनसि**—योगकी दृष्टिसे मनमें, **सुकृतिभिः दृश्यते**—पुण्यवान पुरुषों द्वारा देखे जाते हैं। अर्थात् इस स्वरूपमें जिनेन्द्रका ध्यान भी रूपस्थ ध्यान है ॥ १२७ ॥

अर्थ—जो योगींद्र अर्हंत मुक्तिरूपी स्त्रीके हथेलीके समान रक्त, मनोहर और ऊंचेको उठे हुये हस्तकमल और चरणकमलोंसे शोभित हैं, मंदराचलके समान अचल और दृढ़ रूपसे बंधे हुये पर्यंक आसनके धारण करनेवाले हैं, चंद्रकांत मणिके समान निर्मल शरीरके धारक और नासिकाके अग्रभागपर नेत्रोंके लगानेवाले-नासाग्रदृष्टि हैं—ऐसे योगींद्रको पुण्यवान मनुष्य अपनी योग-दृष्टिसे चित्तके अंदर स्पष्टरूपसे देख लेते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य पुण्यवान और पिंडस्थध्यानके आराधन करनेवाले हैं वे पिंडस्थ समाधिके बलसे भगवान अर्हन्तके हस्त, चरण, शरीर और नासाग्र-दृष्टिपनेको अपने मनमें स्पष्टरूपसे जान लेते हैं ॥ १२७ ॥

रूपातीत ध्यानका स्वरूप—

पिंडस्थप्रभृतित्रयं सकलमित्याहुः समाधिं बुधा
मन्यंते चतुरः कलान्वितगुरूनाश्रित्य वा तादृशान् ।
सिद्धात्मा रसरूपवर्जिततया नीरंजनो निष्कल-
स्तस्य ध्यानमतीतरूपममलं तन्निष्कलं वा विदुः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—**पिण्डस्थ प्रभृति त्रयं**—आदिके पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ,-तीन ध्यान जिन्हें, **सकल समाधिम् बुधा मन्यन्ते**—सकल शरीर सहित समाधि बुद्धिमान कहते हैं। ये ध्यान, **चतुरः-कलान्वितगुरून्**—चारों अपने-अपने स्वरूपवान-अर्हन्त-आचार्य-उपाध्याय तथा साधु इन गुरुओंका या, **तादृशान् वा आश्रित्य**—या तत्सम गुरुओंके आश्रयसे होते हैं, **मन्यन्ते**—ऐसा मानते है। **सिद्धात्मा**—सिद्ध परमात्मा, **रस रूप वर्जिततया**—रस-रूपवान् शरीरसे रहित है, **नीरंजनः**—रागादि रहित है, **निष्कलः**—देह वर्जित है वे, **अतीत-रूपम्**—रूपरहित अमूर्तीक होनेसे, **अमलम्**—निर्मल है उस ध्यानको, **अतीत रूपम् निष्कलं वा**—रूपातीत या निष्कल ध्यान कहते हैं ॥ १२८ ॥

अर्थ—पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ-ये तीन प्रकार के सकल ध्यान शरीरके धारक अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन चार परमेष्ठियोंके वा इनके समान अन्य महात्माओंके अवलंबनसे होते हैं उनमें अर्हंत आदिके रूप आदिका विचार रहता है इसलिये ये ध्यान सावलंबन हैं परंतु रूपातीतध्यान निरालंबन है, रूप आदिको बिना अवलंबन किये ही होता है क्योंकि उसमें सिद्धोंका ध्यान किया जाता है और सिद्ध रस, रूप आदिसे रहित, कर्म कालिमा और शरीरसे भी विनिमुंक्त हैं। अतः अतिशय निर्मल इस रूपातीत ध्यानको निष्कल ध्यान भी कहते हैं।

भावार्थ—जिस ध्यानमें रूप, रस, कला आदिका अवलंबन हो अर्थात्—रूप, रस, कला आदिके द्वारा शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाय वह ध्यान सावलंबन है और जो रूप रस कला आदिसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान हो वह निरालंबन ध्यान है। पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ-ये तीन ध्यान ऐसे हैं कि इनमें अर्हंत आदि चारों परमेष्ठियोंके रूप, रस आदिका अवलंबन रहता है इसलिए सावलंबन हैं और रूपातीत ध्यानमें रूप, रस, कला, शरीर आदिसे रहित शुद्ध सिद्ध परमेष्ठीका ध्यान रहता है इसलिये वह निरालंबन है। इस रूपातीतध्यानको निष्कलध्यान भी कहते हैं॥ १२८॥

अध्यात्म विद्या से ही सिद्ध देखे जा सकते है—

नान्यैर्जन्यो न परजनको नान्यकर्त्ता न कार्यं
नान्यान् भावाननुभवति यो नानुभाव्योऽन्यभावैः।
पुण्यापुण्यप्रकृतिषु न यो बंधको नापि बंध्यः
सिद्धात्मासौ वितरति परां सिद्धिमध्यात्मदृष्टः॥१२९॥

अन्वयार्थ—**अध्यात्म दृष्टः असौ सिद्धात्मा**—अध्यात्म की दृष्टि से देखा गया वह सिद्धात्मा, **नान्यैः जन्यः**—न अन्य से उत्पन्न होता है और, **न परजनकः**—न पर का उत्पादक है, **न अन्य कर्ता न कार्यम्**—न किसी का कर्ता है, न अन्य का कार्य है। **नान्यान् भावान् अनुभवति नान्यै अनुभाव्यः**—न दूसरों द्वारा अनुभवनीय है न अन्य का अनुभव करता, **पुण्य-अपुण्य-प्रकृतिषु**—पुण्य-पाप आदि कर्म प्रकृतियों का, **न यः बंधकः**—न बंधक है और, **न बन्ध्यः**—न उसके द्वारा बंधता है किन्तु, **असौ**—यह परमात्मा, **पराम् सिद्धिम् वितरति**—परमसिद्धिको स्वयं प्राप्त है॥ १२९॥

अर्थ—यह अध्यात्म विद्या द्वारा देखा गया सिद्ध—परमात्मा न तो किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न हुआ है। न दूसरे पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला है, न किसी पदार्थका कर्ता है और न कार्य है। न अन्य पदार्थोंका अनुभव करता है और न किसीके द्वारा अनुभव किया जाता है। पुण्य-पापोंका बांधनेवाला भी नहीं है और न उनसे बंधने ही योग्य है इसलिये ऐसा परमात्मा सदा सिद्धि प्रदान करता है ॥ १२९ ॥

सिद्ध परमात्माका स्वरूप—

सुखमखिलमनंतज्ञानमानंत्यमानं
बलमतुलमनंतं दर्शनश्रीरनंता ।
पदमसममनंतं यस्य नादिर्न चांतः
स जयति परमात्मा निष्कलो निष्कलंकः ॥१३०॥

अन्वयार्थ—भगवान् सिद्ध परमात्मा रूपातीत हैं, इनका ध्यान ही रूपातीत ध्यान है। **अखिलं आनंत्यमानम् सुखम्**—जिनको सम्पूर्ण अखण्डित अनन्त सुख प्राप्त है, **अनन्तज्ञानम्**—ज्ञान भी सम्पूर्ण और अनन्त है। **बलम् अतुलम् अनन्तम्**—शक्ति भी जिनकी अनन्त है जिसकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती। **दर्शनश्रीः अनन्ता**—दर्शन गुण की लक्ष्मी या शोभा भी जिनकी अनन्त है तथा, **यस्य**—जिसका, **न च आदिः न च अन्तः**—न जिनका आदि और न अन्त (विनाश) है **पदम् असमम्**—जिनके पद की समता किसी पदसे नहीं होती अतः वह भी, **अनन्तम्**—अन्त रहित है जो, **निष्कलः**—शरीर रहित अवस्थाको प्राप्त हुए, **निष्कलंकः**—समस्त कर्म निमित्त जन्य रागादि की कालिमाओंसे रहित है, **स परमात्मा जयति**—उक्त गुण विशिष्ट वह सिद्ध परमात्मा जयवन्त हो ॥ १३० ॥

अर्थ—जो परमात्मा अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तदर्शन इसप्रकार अनन्त चतुष्टयका धारक है, आदि-अन्त रहित, अनुपम और अनन्त सिद्धपदसे भूषित हैं, समस्त प्रकारकी देहोंसे और कलंकोंसे मुक्त है ऐसा परमात्मा सदा इस लोकमें जयवन्त रहो ॥ १३० ॥

परमात्मा अनन्तानन्त पदार्थों के ज्ञाता हैं—

प्रतिफलितमिवांतर्दर्पणाद्दर्पणं यः
स्फुरितमिदमनंतानंतबोधिर्विशुद्धः ।

कलयति सदनंतानंतमाकाशमित्थं
स भवति कलनीयो निष्कलात्मात्मनैव ॥१३१॥

अन्वयार्थ—वे सिद्ध परमात्मा इस अन्त रहित अनन्तान्त आकाशको भी जानते हैं, **यः**—जो परमात्मा, **अनंतानंत बोधिः**—अनन्तानन्त ज्ञानका धारक है। **विशुद्धः**—परम शुद्ध है। **अन्तर्दर्पणात्**—अपने अन्तर्दर्पणमें, **प्रतिफलित दर्पणम् इव**—प्रतिबिम्बित अन्य दर्पणके समान, **स्फुरितम्**—प्रकाशमान; **सदनंतानंतम् आकाशम्**—अनन्तानन्त इस आकाशके अस्तित्वको भी, **इत्थं कलयति**—यह ऐसा है, ऐसा जानता है, **सः निष्कलात्मा**—वह शरीर रहित भी परमात्मा, **आत्मना एव**—अपनी आत्माके द्वारा ही, **कलनीयः भवति**—जानने योग्य होता है ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो अनन्तानन्त ज्ञानका धारक परमात्मा कर्म रहित होनेके कारण दर्पणमें दर्पणके समान अपने अन्तरंगमें प्रतिबिम्बित और स्फुरायमान, अनन्तानन्त आकाशको 'ऐसा है'—इसप्रकार जानता है वह निष्कलंकात्मा परमात्मा अपनी आत्मासे ही निश्चयके योग्य है।

भावार्थ—यद्यपि आकाश अनन्तानन्त है तथापि उसे जो विशुद्ध परमात्मा जिसप्रकार दर्पणमें प्रतिफलित दर्पण इस रूपका ऐसा है—ऐसा स्पष्ट रूपसे जान लिया जाता है उसीप्रकार अपने अनन्तज्ञानके माहात्म्यसे स्पष्ट जान लेता है और समस्त कलंकोंसे रहित है वह (परमात्मा) अपनेसे ही ज्ञात होता है। दूसरा कोई पदार्थ उसका ज्ञान नहीं करा सकता ॥ १३१ ॥

परमात्मा का स्वरूप : ५ छंदों में—

न स गुरुर्न लघुर्न च मध्यमो
न च शिशुर्न युवा न वयोऽधिकः ।
न वनिता न पुमान्न नपुंसकं
न भिदुरश्छिदुरो न स भंगुरः ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ—**सः**—वह सिद्ध परमात्मा, **न गुरुः न लघुः**—न भारी है और न हलका है, **न मध्यमः**—न इन दोनों के बीच का—मध्यम है। **न शिशुः न युवा**—न बालक है न जवान है। **न वयोऽधिकः**—न वृद्धावस्था को प्राप्त है। **न वनिता न पुमान्**—न स्त्री है और न पुरुष है, **न नपुंसकः**—और न उभय लिंगसे भिन्न-नपुंसक लिंग है, **न भिदुरः न छिदुरः**—न उसको भेदा

जा सकता है और न छेदा जा सकता है। **न भंगुरः**—न वह विनाशीक है। ये सब धर्म तो शरीर के हैं, आत्मा के नहीं है। आत्मा तो शरीर रहित होने से ये सब अवस्थाएँ सिद्ध परमात्मा में नहीं हैं ॥ १३२ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न भारी है, न हलका है, न मध्यम-बीचका है। न बालक, युवा और वृद्ध है, स्त्री-पुरुष और नपुंसक का भी नहीं है एवं भिदने-वाला, छिदनेवाला और क्षणभंगुर भी नहीं है।

भावार्थ—भारी, हलका, बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, भेदन, छेदन, और क्षणभंगुरपना तो जड़-शरीरकी पर्यायें हैं,परमात्मा शरीरसे रहित है इसलिये उसमें भारीपना आदि कोई बात नहीं ॥ १३२ ॥

न सरसः सहजेन न नीरसो
द्रवमयप्रकृतिर्न घनो न च ।
न विवृतो भगवान्न स संवृतो
न विरतोऽविरतो न निगद्यते ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ—वह सिद्धात्मा, **सहजेन**—अपने सहज स्वभाव से ही, **न सरसाः न नीरसः**—न रस सहित है, न नीरस है, अर्थात् विकृत रस वाले भी नहीं हैं। **न द्रवमय प्रकृतिः न च घनः**—न तरल पानी की तरह हैं और न घन अर्थात् पत्थर की तरह कठोर हैं, न पिघलने वाला है। **न विवृतः न संवृत्तः**—न खुले हुए हैं; न ढके हुए हैं, **न विरतः न अविरतः**—न विरक्त है और न अविरक्त है, **इति न निगद्यते**—इन्हें किसी भी रूप में कहा नहीं जा सकता। इसका कारण उनके शरीर का अभाव है जबकि उक्त सभी अवस्थाएँ शरीर की होती हैं ॥ १३३ ॥

अर्थ—वह परमात्मा, न स्वभावसे सरस—रस सहित है, न नीरस—रसरहित है, न द्रवित है, न कठिन है, न विवृत—खुला हुआ है, न संवृत—ढका हुआ है, न विरत-वैरागी है और न अविरत—सरागी है ॥ १३३ ॥

न कुरुते हरते न स रक्षति
क्षपितमोहतमा न समीहकः ।
न सतमा न सरजा न स सत्त्ववान्
परगुणैर्न गुणी गुणवान् निजैः ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ—**नः कुरुते न हरते**—न वह संसार का कुछ भी काम करता है **न संहरते**—और न संहार करता है, **न स रक्षति**—और उसकी रक्षा नहीं करता है, अर्थात् वह इस जगत् का कर्ता-धर्ता व नाशकर्ता नहीं है।, **क्षपित मोहतमः**—मोह कर्मका जिनके नाश हो चुका है अतः, **न समीहकः**—किसी वस्तु की इच्छा भी नहीं करता, वह परमात्मा अन्य वादियों द्वारा कल्पित, **न तमसा न रजसा न सत्त्ववान्**—तम-रज और सतोगुण वाला नहीं, **पर गुणैः न गुणी**—वह परके गुणोंसे, यह अपनेसे भिन्न सत्ता वाले गुणों से युक्त नहीं है किन्तु, **निजैःगुणैः गुणवान्**—अपनेसे अभिन्न अपने गुणों से ही गुणी है ॥ १३४ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न कुछ काम करता है, न किसीका संहार और न रक्षा करता है। मोहरूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेवाला है। इच्छा, अज्ञानांधकार और कलंकोंसे रहित है, बलवान है और परपदार्थोंके गुणोंसे गुणवान न होकर अपने-आत्मिक गुणोंसे गुणवान है।

भावार्थ—बहुतसे मनुष्य परमात्माके तीन भेद मानते हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। उनमें ब्रह्माको जगत्का बनानेवाला, विष्णुको उसकी रक्षा करने वाला, और महेशको प्रलयकालमें संहार करनेवाला मानते हैं परन्तु वह परमात्मा राग-द्वेष आदिसे रहित हो जानेके कारण न किसीका कर्ता है, न हर्ता और न रक्षक है। उसने समस्त मोहको दूर कर दिया है, इच्छाओंको जीत लिया है, किसी प्रकारका अज्ञान और मलभी उसके पास नहीं फटकने पाता तथा वह महाबलवान और पर पदार्थोंके गुणोंसे गुणी न होकर निर्दोष आत्मिक गुणोंसे गुणी है ॥ १३४ ।

न करणं न स कर्म न कारको
न शुभो न अशुभो न शुभाशुभः
स हि विशुद्धिविशोधितबोधिमान्
निरवधिनिरुपाधिरधीश्वरः ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—वह सिद्ध परमात्मा, **न करणम् न स कर्म न कारकः**—इस संसार का न करण है, न अन्य का कर्म है, न अन्य का करने वाला है, **न शुभः न अशुभः**—न वह शुभरूप है और न अशुभ रूप है, **न शुभाशुभः**—और न दोनों के मिश्र रूप है। **स हि**—वह तो, **विशुद्धि विशोधित बोधिमान्**—सर्व दोष रहित परम शुद्ध, बोधि = सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र वाला है,

निरुपाधिः—सम्पूर्ण-बाह्योपाधि रहित है, **निरवधिः**—जिसकी कोई मर्यादा नहीं ऐसे अनन्त चतुष्टय का, **अधीश्वरः**—स्वामी है ॥ १३५ ॥

अर्थ—वह परमात्मा न करण है—'उसके द्वारा कोई काम नहीं होता है', न कर्म है—दूसरोंके द्वारा स्वयं नहीं होता है, और न कारक है—'न किसी क्रियाको करता है'। न शुभ है, न अशुभ है और न शुभाशुभ है। विशुद्धिद्वारा अतिशय विशुद्ध और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप है असीम, कर्मोकी उपाधिसे रहित और सबका स्वामी है ॥ १३५ ॥

परमशर्मनिधेः परमात्मनः
परमरूपनिरूपणमांतरं ।
निरुपमं तदकृत्रिमसुंदरं
न वचसो मनसोऽपि न गोचरं ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—परम शर्म निधेः—अनन्त सुख के निधान, **परमात्मनः**—परमात्मा का यह, **आन्तरम्**—अन्तरङ्ग, **परम रूप निरूपणम्**—सुन्दर स्वरूप वर्णन है वह, **निरुपमम्**—उपमारहित है अतः निरुपम है, **तत् अकृत्रिमसुन्दरम्**—उनका यह रूप बनावटी नहीं है—सहज रूप है, सुन्दर है जो, **न वचसः गोचरम्** न वचन से कहा जा सकता है और, **न मनसः अपि गोचरम्**—और न मन से भी विषयकिया जा सकता है। संसारी जीव मन, वचन से रूपी पदार्थ को ही जानते है पर वे परमात्मा शरीर रहित-अमूर्तीक हैं अतः मन-वचन के द्वारा विषय नहीं बनाए जा सकते ॥ १३६ ॥

अर्थ—इस प्रकार परम कल्याणके भाजन परमात्माका स्वरूप सर्वोत्कृष्ट-स्वरूप है। इसलिये उसका निरूपण करना अतिगहरा-कठिन है क्योंकि वह निरुपम-उपमा रहित है, अकृत्रिम सुंदर है—बनावटी न होकर भी अतिशय सुहावना है तथा मन और वचन द्वारा भी उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १३६ ॥

श्रुतदेवता से भी परमात्माका पूर्ण विवेचन असम्भव—

तवखिलं न किल श्रुतदेवता
गदितुमुत्सहते भगवत्यपि ।
कथमतत्त्वदृशो वत मादृशाः
कुकवयो निगदेन गदंत्वमी ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ—**तत् अखिलं**—उस सम्पूर्ण आत्मतत्त्वका **गदितुम्**—वर्णन करनेके लिए, **भगवति श्रुतदेवता अपि**—भगवती श्रुतदेवी भी, **न उत्सहते**—उत्साहित नहीं होती अर्थात् वह भी वर्णन नहीं कर सकती फिर, **अतत्त्वदृशः**—तत्त्वको पूरा न समझने वाले, **अमी मादृशाः कुकवयः**—ये मुझ जैसे अल्प मतिधारक तुच्छ कवि, **निगदेन**—अपने वचन द्वारा, **गदंतु**—वर्णन करते है, **इतिहंत**—यह खेद है ॥ १३७ ॥

अर्थ—यदि साक्षात् भगवती श्रुतदेवी भी इस बातका साहस करें कि मैं परमात्माके विषयमें कुछ कहूँ—उनके अनंतज्ञान आदिका यथार्थ प्रतिपादन करूं, तो वह भी जब नहीं कर सकती तब मेरे समान जराभी तत्त्वको न जाननेवाले, निंदित, तुच्छ कवि कैसे उनके स्वरूपका वर्णन करसकते हैं ? अर्थात् परमात्माके अविकल स्वरूपका प्रतिपादन करना एकप्रकारसे असंभव है १३७

आत्मतेज ही अज्ञानांधकार का नाशक है—

यदि मनसि गतस्ते सिद्धिशुद्धांतरंगो
भव भृशमभवात्मध्यानशुद्धांतरंगः ।
सकलविमलबोधध्याननिर्धूतकर्मा
प्रकृतिमुपलभस्व स्वात्मनो निष्कलंकः ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ—**यदि ते मनसि**—यदि तुम्हारे चित्तमें, **सिद्धि शुद्धः अन्तरंगः गतः**—सिद्ध पद में होने वाली शुद्धिका अन्तरंग परिणाम है तो, **अभव आत्मध्यान**—शुद्ध आत्मा के ध्यान द्वारा, **शुद्धान्तरंगः भव**—अपने अन्तरंगको शुद्ध बनाओ और फिर **सकल-विमल-बोधध्यान निर्धूतकर्मा**—सम्पूर्ण निर्मलज्ञान और ध्यानके द्वारा **निर्धूतकर्मा**—कर्मोंका नाशकर, **निष्कलंकः**—कलंक जो रागादि उनसे रहित होकर, **स्वात्मनः प्रकृतिम्**—स्वात्माके स्वभावको **उपलभस्व**—प्राप्त करो ॥ १३८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तेरा मन मोक्षकी प्राप्ति के लिये लालायित है तो तू अपने मनको परमात्माके ध्यानसे शुद्ध बना—परमात्माका ध्यान कर। और सकल एवं विमलज्ञान वा उसके धारक परमात्माके ध्यानसे समस्त कर्मोंको जलाकर और समस्त कलंकोंसे रहित होकर स्वात्मा शुद्ध-आत्माकी प्रकृतिको प्राप्त कर ।

भावार्थ—जब तक मन परमात्माके ध्यानसे शुद्ध न होगा तब तक कर्मोंका नाश, कलंकोंका परिहार और शुद्धात्माका स्वभाव भी प्राप्त न होगा ।

इसलिए जो महानुभाव शुद्धात्माके अभिलाषी हैं उन्हें परमात्माके ध्यानसे मनको शुद्धकर तथा कर्म और कलंकोंका नाशकर उसे प्राप्त करना चाहिये ॥ १३८ ॥

आत्मज्ञान के लिए आत्मदीप ही कार्यकारी--

योज्या पात्रे क्वचिदपि दशा कापि न स्नेहदिग्धा
नैतस्यार्चिर्व्यवहिततरं बोधनेऽन्वेषणीयं ।
हेतुः सर्वोऽञ्जनपरिणतेरेष नीरंजनत्वा-
दात्मज्योतिर्ग्रहणविधिना बोध्यतामात्मदीपः ॥१३९॥

अन्वयार्थ--**क्वचित् अपि पात्रे**—किसी भी दीपक आदि पात्रमें; **स्नेहदिग्धा**—तेल आदिसे भीगी हुई, **का अपि दशा**--कोई भी अवस्था, **न**—उपयोगी नहीं है क्योंकि, **एतस्य**—इस दीपक आदि की, **अर्चिः**—ज्योतिकिरण **व्यवहिततरम् बोधने**—सूक्ष्म नेत्रसे दूरवर्ती विषयवाले पदार्थके बोधमें, **न अन्वेषणीयम्**--नहीं ढूंढना चाहिए। **सर्वः**—यह दीपक आदि सब, **अञ्जन परिणतेः**—मूर्तिक पदार्थके ज्ञान करानेमें ही समर्थ हैं तथा, **एषः**—यह आत्मा, **नीरंजनत्वात्**—अमूर्त होनेसे दीपक बोध न करा सकेगा। इसके लिए, **आत्मदीपः**—आत्मारूपी दीपक, **आत्मज्योति ग्रहण विधिना**—आत्म ज्योतिके ग्रहण करने योग्य विधिके द्वारा ही, **बोध्यताम्**—उसका ज्ञान करो ॥ १३९ ॥

अर्थ—इस आत्माका ज्ञान करानेमें न तो तेल बत्ती युक्त दीपक ही सहायता कर सकता है और न अन्य कोई ज्योति स्वरूप-घट पट आदिकको प्रकाशित करनेवाले पदार्थ ही मदद पहुँचा सकते हैं। क्योंकि वे सब कारण रूपी पदार्थोंके द्योतक हैं। आत्मा अरूपी निष्कलंक है। उसको तो उसी आत्माकी ज्योति ही ज्ञान करा सकती है। इसलिये आत्माके द्वाराही आत्माका ज्ञान करना उचित है ॥ १३९ ॥

मोहान्धकारका विनाश आत्मज्योतिसे होता है—

सौरं चांद्रं मणिगणभवं वैद्युतं वाहनं वा
नास्तव्यस्तं प्रभवति महो यस्य विध्वंसनाय ।
मोहध्वांतं तदभिभवितुं योगभाजो भजंतां
ज्योतिर्नैरंजनमघभिदेऽनश्वरं भास्वरं च ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ—**सौर चान्द्रं**—सूर्य तथा चन्द्रमा, **मणिगण भवम्**—मणियोंसे उत्पन्न, **वैद्युतं दाहनं वा**—बिजली और अग्निका, **महः**—तेज अर्थात् प्रकाश **यस्य**—जिस मोहको, **विध्वंसनाय**—नाश करने-हटानेके लिए; **न प्रभवति**—समर्थ नहीं है, क्योंकि, **तत् अस्त व्यस्तं**—ये सब प्रकाश अस्त-व्यस्त है अर्थात् अस्त हो जाने वाले है और कोई व्यवहित प्रकाशवाले हैं अर्थात् दूसरे पदार्थोंसे उनका प्रकाश रुक जाता है, **तत्**—इसलिए, **मोहध्वांतम् अभिभवितुम्**—मोह रूपी अन्धकार को मिटानेके लिए तथा, **अघभिदे**—पापोंको नष्ट करनेके लिए; **योगभाजः**—योगिजन, **नैरंजनं अनश्वरं भास्वरं**—रागादि अंजनसे रहित, अविनाशी, देदीप्यमान; **ज्योतिः**—आत्मज्योतिको, **भजन्ताम्**—भजें अर्थात् उसीका ध्यान करें ॥ १४० ॥

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, मणि, बिजली और अग्निका तेज अस्त-व्यस्त है—अर्थात् थोड़े देशमें रहनेवाला और विनाशीक है इसलिये वह मोहरूपी अंधकारके नाश करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता। कभी भी उससे मोहांधकार नष्ट नहीं हो सकता। किंतु मोहरूपी अंधकार और पापसमूहका नाश निष्कलंक आत्माकी ज्योतिसे होता है क्योंकि वह अविनाशी और सर्वत्र देदीप्यमान है। इसलिये योगियोंको पापोंके नाशार्थ उसीका ध्यान करना योग्य है।

भावार्थ—यद्यपि संसारमें सूर्य, चन्द्रमा, मणि, बिजली आदि बहुतसे तेज हैं परंतु वे सब थोड़े देशमें रहनेवाले और विनाशीक हैं। उनमें ऐसा एक भी तेज नहीं जो मोह और पापरूपी निबिड अंधकारको दूर कर सके। किंतु एक आत्मतेज ही ऐसा है जो सब तेजोंमें अनुपम है, अविनाशी और सर्वत्र फैला हुआ है तथा इसके प्रगट होते ही मोह और पापरूप अंधकार देखते-देखते पलायन कर जाते हैं इसलिये योगियोंको आत्मतेजका ही ध्यान करना उचित है ॥ १४० ॥

ज्ञानशक्ति आत्मासे अभिन्न ही है—

प्रालेयांशोरविकलकला श्रीरिवोष्णेव वह्नेः
स्तेजः सूर्यादिव जलनिधेर्वारिवेलावलीव
वर्तिर्दीपादिव न हि पृथग्वर्तिनी ज्ञानशक्तिः
यस्मात्तस्मात्कुरुत परमादात्मनः स्वात्मलाभं ।१४१।

अन्वयार्थ—**प्रालेयांशोः**—चन्द्रमासे, **अविकलकला**—उसकी कलाएं अभिन्न हैं।

वह्नेः-अग्निसे, **उष्मश्रीः**—उष्णताकी शोभाकी, **इव**—तरह, **सूर्यात् तेज इव**—सूर्यसे उसके तेजकी तरह, **जलनिधेः**—समुद्रसे, **वारिवेलावली इव**—जलकी तरंगावली की तरह, **दीपात् वर्तिः इव**—दीपकसे बत्तीकी तरह, **ज्ञान शक्ति**—आत्मा की ज्ञान शक्ति भी, **पृथक् वर्तिनी न हि**—जुदा नहीं है। **यस्मात् तस्मात्**—ऐसा है इसलिए, **परमात् आत्मनः**—इस उत्कृष्ट आत्मज्योतिसे, **स्वात्म लाभं**—अपनी आत्माका यथार्थ रूप जो स्वाभाविक है, उसे **कुरुत**—प्राप्त करो ॥ १४१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चंद्रमासे कला, अग्निसे उष्णता, सूर्यसे तेज, समुद्रसे जल और तरंगें एवं दीपकसे बत्ती-ये पदार्थ जुदे नहीं हैं उसीप्रकार ज्ञानशक्ति भी आत्मासे जुदी नहीं है। इसलिये अवश्य योगियोंको अपनी आत्मासे अपनी आत्माका स्वरूप प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ—अनेक सिद्धांतकार गुण-गुणी और अवयव-अवयवोंका सर्वथा भेद मानते हैं परन्तु वे सिद्धान्त सर्वथा निर्मूल जान पड़ते हैं क्योंकि कोई भी अनुभवी विद्वान इसबातको नहीं कह सकता कि कला चंद्रमासे भिन्न हैं। उष्णता अग्निसे, तेज सूर्यसे, जल वा तरंगे समुद्रसे, और बत्ती दीपकसे जुदी हैं यदि कला आदि पदार्थ चन्द्रमा आदिसे सर्वथा भिन्न मान लिये जायेंगे तो चन्द्रमा आदि पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेंगे। क्योंकि कला आदिका समुदाय ही चन्द्रमा आदि पदार्थ हैं। इसीप्रकार ज्ञानशक्ति भी आत्मासे भिन्न नहीं, गुण-गुणी होनेसे आत्मा और ज्ञान एकही हैं। इसलिये आत्मासे ज्ञानशक्तिका लाभ करना और आत्मासे आत्माके स्वरूपका लाभ करना दोनों बातें एक हैं ॥१४१॥

रत्नत्रय आत्मासे अभिन्न है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तं शिवपदपदवी ज्ञानमंतः प्रविष्टं
दृष्टौ दृष्टिश्चरित्रे तदमलमचलं शुद्धचैतन्यमेव ।
नैषा भिन्नेति रत्नत्रितयपरिणतिस्तत्त्वतो भाति यस्मा-
त्तन्नित्यं निर्विकल्पे कलयति परमात्मानमात्मन्यभिन्नं१४।२।

अन्वयार्थ—**सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तम्**—सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र, **शिवपद पदवी**—मोक्ष पदके कारण हैं। इनमें से, **ज्ञानम् अन्तः प्रविष्टम्**—ज्ञान तो आत्माके भीतर ही है। **दृष्टौ दृष्टिः**—सम्यग्दर्शन आत्माके श्रद्धान गुण रूप ही है, **चरित्रे**—चारित्र, **तत् अमलं अचलं शुद्ध चैतन्यम् एव**—वह निर्मल अविनश्वर शुद्ध चैतन्यभाव ही है। इसप्रकार, **एषा**—यह, **रत्नत्रितय**

परिणतिः—इन तीनों रत्नोंकी परिणति, **तत्त्वतः न भिन्ना भाति**—यथार्थमें भिन्न-भिन्न नहीं, अभिन्न रूप ही है। **यस्मात्**—जबकि ऐसा है, **तत्**—तो उस, **निर्विकल्पे**—निर्विकल्प स्वरूप, **आत्मनि**—अपनी आत्मामें, **परमात्मानम्**—परमात्माको, **अभिन्नम् कलयति**—अभिन्न ही निर्णय करता है ॥१४१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों रत्नत्रय मोक्षके मार्ग हैं। इनमें ज्ञान तो अन्तरंगमें प्रविष्ट है, श्रद्धानमें सम्यग्दर्शन और चारित्रमें अविचल निर्मल शुद्ध चैतन्य विद्यमान है। इसलिये जिसके सम्यग्दर्शन आदि तीनों रत्न निश्चयनयसे अभिन्न हैं—भिन्न नहीं जान पड़ते उस अविनाशी परमात्माका योगी अपने निर्विकल्प आत्मासे निश्चय करता है।

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त हुये मोक्ष नहीं मिल सकती, इसलिये सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं और ये चैतन्यस्वरूप परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न हैं, सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप ही परमात्मा है। इसलिये योगीगण विकल्पोंसे रहित अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप अविनाशी परमात्माका निश्चय करते हैं॥ १४२ ॥

मोक्ष रूपी लक्ष्मी अध्यात्मविद्यामें स्थित पुरुषका ही वरण करती है—

तैस्तैरात्मस्वरूपं निखिलमविकलं लक्ष्यमिर्लक्षयित्वा
हित्वा हेयामविद्यां भृशमहितकरीं दीर्घसंसारहेतुं।
अध्यास्तेऽध्यात्मविद्यां हितवसतिमुपादेयबुद्ध्याधिकां यः
पुंसस्तस्यावरीतुं क्षिपति निरुपमां मालिकां मोक्षलक्ष्मीः॥

अन्वयार्थ—**तैः तैः लक्ष्यमिः**—उन उन प्रसिद्ध लक्षणोंसे, **निखिलं अविकलम् आत्मस्वरूपम्**—आत्माके सम्पूर्ण स्वरूपको, **लक्षयित्वा**—पहचान कर, **भृशम् अहितकरीम्**—जो पद-पद पर अहित करनेवाली है, **दीर्घ संसार हेतुं**—अनन्त संसार परिभ्रमण कारण है तथा, **हेयाम् अविद्याम् हित्वा**—त्यागनेके योग्य उस अज्ञान या मिथ्याज्ञान रूपी अविद्याको छोड़कर, **हितवसतिम्**—हितके स्थान रूप, **अध्यात्मविद्याम्**—इस अध्यात्म विद्यामें **उपादेय बुद्धया**—ग्रहण करनेकी बुद्धिसे, **यः**—जो सज्जन, **अधिकाम् अध्यास्ते**—पूर्णरूपसे अपनी स्थिति बनाता है, **तस्य पुंसः वरीतुम्**—उस महापुरुषका वरण करनेके लिए, **मोक्ष लक्ष्मी**—मुक्ति रूपी लक्ष्मी, **निरुपमां मालिकाम्**—

अनुपम वरमाला, **क्षिपति**—डालती है। अर्थात् उसे ही मोक्षप्राप्ति स्वयं हो जाती है ॥ १४३ ॥

अर्थ—इसप्रकार आत्माके परिचायक जो जो लक्षण हैं उन सबसे भले प्रकार आत्माका स्वरूप पहिचानकर जो मनुष्य त्यागने योग्य, अहितको करानेवाली एवं दीर्घकालतक संसारमें घुलानेवाली अविद्याको छोड़कर परम-हितकारिणी, ग्रहण करने योग्य अध्यात्मविद्यामें अधिक स्थिति करता है उसके गलेमें मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रसन्न होकर वरनेके लिये वरमाला डालती है। अर्थात् वह सर्वोत्तम पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—आत्माके जनानेवाले इस ग्रन्थमें बतलाये गये वे और उनसे अन्य भी बहुतसे लक्षण हैं परन्तु जबतक संसारमें भ्रमण करानेवाली महा निकृष्ट अविद्याका प्रभाव रहेगा और परमार्थ विद्या जो कि परमहित-कारिणी है उसका आश्रय न किया जायगा तबतक न आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है और न मोक्षसुख ही मिल सकता है। इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे अविद्याको हटाकर अध्यात्म विद्याका यथाशक्ति अवलम्बन करें और आत्माके लक्षणोंको जानकर उसका स्वरूप पहिचानें जिससे उन्हें मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय ॥ १४३ ॥

• मुक्ति (मोक्ष) का स्वरूप—

नात्यंताभावरूपा न च जडिममयी व्योमवद्व्यापिनी नो
न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेष्यते सर्वविद्भिः ।
सद्रूपात्मप्रसादद्गवगमगुणौघा च संसारसारा
निस्सीमात्यक्षसौख्योदयवसतिरनिर्व्यापिनी मुक्तिरुक्ता।१४४।

अन्वयार्थ—**न-अत्यन्त अभावरूपा**—मोक्ष अत्यन्त अभाव स्वरूप नहीं है—सद्भाव स्वरूप है। **न च जडिममयी**—वह जड़ रूप है ऐसा भी नहीं है, **व्योमवत् व्यापिनो नो**—उसमें आत्मा आकाश की तरह सर्व व्यापक बन जाता है। ऐसा भी नहीं है। **व्यावृत्तिं न दधाना**—मुक्तिसे लौटना भी नहीं होता—अर्थात् सदा शाश्वत् है, **सर्वविद्भिः**—सर्वज्ञदेवने उसे, **विषयसुखघना अपि**—इन्द्रियोंको अत्यन्त विषयसुख रूप है, **इति नेष्यते**—यह भी नहीं माना है। किन्तु, **मुक्तिः सद्रूपा**—मुक्तिका अस्तित्व, है वह सद्रूप है। **आत्मप्रसाद-दृक्-अवगम गुणौघाः**—वह आत्म विशुद्धि रूप है। दर्शनगुण, ज्ञानगुण आदि गुणोंके समुदाय रूप, **च संसार**

सारा—और संसारमें वही सारभूत है, बाकी सब असार है। **निःसीम—अत्यक्ष सौख्य-उदय वसतिः**—निःसीम सीमा रहित ऐसे अतीन्द्रिय सुखके उदयका निवास स्थान है, **अनिव्यापिनी**—व्यापक नहीं है आत्मसीमा में है, **इति मुक्ति उक्ता**—ऐसा मुक्तिका स्वरूप कहा गया है ॥ १४४॥

अर्थ—यह मोक्ष न तो अत्यन्ताभावरूप है, न जड़तामय है, न आकाशके समान व्यापक है, न व्यावृत्तिको धारण करनेवाली अर्थात् जहांसे लौटकर जीव चले आते हैं—ऐसी है और न विद्वानलोग उसे सघन विषयसुखका प्राप्त हो जाना स्वरूपही मानते हैं परन्तु यह सत्स्वरूप है, निराकुलतामय है, दर्शन-ज्ञान आदि गुणस्वरूप है, संसारमें सार है, असीम है, अतीन्द्रियसुखका भण्डार और अव्यापक है।

भावार्थ—बौद्ध मानते हैं कि जिसप्रकार दीपक बुझ जाता है उसीप्रकार आत्मतत्त्वका सर्वथा नाश हो जाना मोक्ष है। नैयायिक आदिका यह सिद्धांत है कि ज्ञान आदि दुःखके कारण हैं ज्यों-ज्यों ज्ञान शक्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यों जीवको आकुलता होती जाती है किन्तु जिससमय ज्ञान और उसके सहभावी इच्छा सुख आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, उस समय इसको किसी प्रकारकी आकुलता नहीं रहती, इसलिये जहां ज्ञान आदिका अभाव है वहीं मोक्ष है। इसतरह वे आत्माकी जड़तारूप अवस्थाको मोक्ष मानते हैं। तथा कोई समस्त जगत्में आत्माके समान प्रदेशोंके फैलाव होनेपर मोक्ष होता है—ऐसा स्वीकार करते हैं।

अनेक मतके लोग यह मानते हैं कि जीव मोक्षमें जाकर लौट आते हैं और अनेक विवेकविहीन मनुष्योंका सिद्धान्त यह है कि संसारमें परिपूर्ण इन्द्रियोंका सुख प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है। परन्तु इनमें एक भी सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि एक तो आत्मा नित्य—अविनाशीक पदार्थ है। उसका कभी नाश हो नहीं सकता। दूसरे मोक्षकी प्राप्ति इसलिये की जाती है कि हमारी आत्मा शान्तिमय सुखका अनुभव करे, परन्तु यदि वह मोक्ष अवस्थामें जाकर नष्ट हो गया तो उनकी प्राप्तिके लिये उसका प्रयत्न ही निरर्थक गया। उसे क्या लाभ हुआ? तथा ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जो अपने नाशके लिये उपाय करेगा? इसलिये आत्माकी समूलनाश अवस्था कभी मोक्ष नहीं हो सकती। आत्माकी जड़ अवस्था भी मोक्ष नहीं है, क्योंकि निजस्वरूप अनन्तज्ञान और अनन्तसुखकी प्राप्तिके लिये मोक्षका उद्यम किया जाता है, यदि वहां जाकर हमारी निज सम्पत्ति भी नष्ट हो गई तो उसकी प्राप्तिसे लाभ ही क्या हुआ? दूसरे—मोक्ष स्थान में आत्मा

और दीवाल आदि जड़ पदार्थोंमें भेद ही क्या रहा ? क्योंकि मोक्षमें आत्मा भी जड़ और दीवाल आदि पदार्थ भी जड, दोनों समान हो जायेंगे। इसलिये आत्माकी जड़-अवस्था भी मोक्ष नहीं।

यदि मोक्षसे लौटकर फिर संसारमें आना पड़ा और यहांके दुःख भोगने पड़े तो मोक्षके लिये किया हुआ समस्त परिश्रम ही व्यर्थ गया क्योंकि सदा कालके लिये तो संसारसे छूटना हुआ ही नहीं तथा संसारके कारण रागद्वेष आदि वासना है और जिससमय ये समस्त वासना नष्ट हो जाती हैं, उस समय मोक्ष होता है। इसकारण मोक्षमें चले जानेपर वासनाके अभावसे भी फिर संसारमें लौटकर नहीं आया जा सकता। इसलिये मोक्ष जाकर पुनः आत्मा लौटकर संसारमें आ जाता है—यह सिद्धान्त नितान्त भ्रमपूर्ण है।

परिपूर्ण विषयसुखकी प्राप्ति भी मोक्ष नहीं कही जा सकती। क्योंकि वैषयिक सुख विनाशीक और परिणाममें दुःख देने वाला है एवं मोक्षसुख नित्य और सदा निराकुलतामय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसलिये वैषयिक सुख, जरा भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। अतः मोक्षपदार्थ सत्स्वरूप है, उसमें जाकर निराकुलतामयसुखका भोक्ता, कर्ममलसे रहित आत्मा विद्यमान रहता है। आत्मप्रासाद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंका भण्डार है, सर्वोत्कृष्ट, असीम, अनन्त अतीन्द्रिय सुखका भण्डार और अव्याबाध अर्थात् जिस शरीरसे जिसका आत्मा मोक्षको प्राप्त करता है उसका आत्मा उस अन्तिम शरीरके परिमाणही रहता है, न्यूनाधिक जरा भी नहीं होता ॥१४४॥

मुक्तावली का स्वरूप—

ध्यानान्निःपंकशीघ्रप्रघटितमहाकर्मसंघट्टशुक्ते-
र्भेदेन प्रोल्लसंती धृतसकलयथाख्यातवृत्ता महार्घा।
स्वच्छात्मीयस्वभावप्रतिफलदमलांतर्गुणा नः प्रदेया-
दंतर्ज्योतिःप्रकाशं हृदयविनिहिता सिद्धमुक्तावलीयं॥१४५॥

अन्वयार्थ—**इयम् सिद्धमुक्तावली**—यह सिद्ध परमात्माओंकी पंक्ति, जिसे मुक्ताओं की-मोतियोंकी माला कहा जा सकता है। यहां मुक्त + आवली और मुक्ता + आवली—ऐसे भेद को भी शब्दोंमें अभेदकर मोतियों की माला की उपमा दी है। मोती सीपको भेदकर प्रकट होता है। यह सिद्ध मुक्तावली, **ध्यानात् निःपंक**—ध्यानके द्वारा पंक-मलिनता रहित अर्थात् निर्मल, **शीघ्रप्रघटित महाकर्म संघट्ट शुक्तेः**—शीघ्रताके साथ महाप्रबल कर्मके संघट्ट रूपी

सीपको, **भेदेन**—भेदकर, **प्रोल्लसंती**—शोभायमान है, **धृतसकल यथाख्यातवृत्ता**—मोती वृत्त अर्थात् गोल—होता है पर धारण किया है यथाख्यातचारित्र जिन्होंने, **महार्घा**—वह बहुमूल्यवान् है, **स्वच्छ-आत्मीय-स्वाभाव प्रतिफलम्**—निर्मल अपने स्वभावसे ही प्रतिफलित है। **अमल-अन्तर्गुणा**—स्वच्छ अन्तरंग गुणवाली यह मुक्तावली अर्थात् सिद्धभगवान्का समुदाय, **हृदय विनिहिता**—हृदयमें सुशोभित होनेपर, **अन्तः ज्योतिः प्रकाशं**—आत्मज्योतिका अन्तःप्रकाश, **नः प्रदेयात्**—हम सबका प्रदान करे।

अर्थ—जो सिद्धोंकी पंक्तिरूप मुक्तावली, ध्यानके द्वारा पंकरहित नवीन महाकर्मोंकी राशिरूपी सीपको भेदकर प्रकाशमान है, सकल-यथाख्यात चरित्र (रूपोवृत्त निज गोलाई) को धारण करनेवाली है, बहुगुल्य है और जिसमें स्वभावस्वरूप गुण सदा प्रतिबिम्बित रहते हैं वह (सिद्धोंकी पंक्तिरूपी मुक्तावली) हृदय (कंठ, मन) में धारणका गई आत्मज्योति के प्रकाशको प्रदान करे।

भावार्थ—जिसप्रकार मुक्ताओंका समूह सीपसे बाहिर निकलकर अतिशय प्रकाशमान जान पड़ता है, गोल और बहुमूल्य होता है एवं उसमें उसके चाकचिक्य आदि गुण प्रतिबिम्बित रहते हैं तथा कंठमें पहननेपर अपनी कांतिसे जगमगा देता है उसीप्रकार सिद्ध भी जिससमय कर्मावरणोंसे रहित हो जाते हैं उससमय देदीप्यमान मालूम पड़ते हैं, यथाख्यातचारित्रके धारक और महार्घ कहे जाते हैं एवं उनकी आत्मामें अनंतज्ञान, अनंतदर्शनरूपी गुण प्रतिबिम्बित रहते हैं। इसलिये हमारी प्रार्थना है कि हृदयमें धारण किये गये वे सिद्ध परमात्मा हम योगियोंको केवलज्ञान आदि आत्मकी ज्योति प्रदान करें॥ १४५॥

आत्मबोध प्राप्त योगियोंको मेरा विनम्र नमन—

इलाघ्यास्ते ते महार्घा जगति कृतधियः सर्वथा ते कृतार्था-
स्तेभ्योऽस्माभिः प्रणामांजलिपुटघटना भक्तिनम्रीकृतेयं
येषां निर्वाणलक्ष्मीनवयुवतिवशीकारमंत्रस्तथेति
स्फूर्जत्यात्मप्रबोधत्रिभुवनभवनालोकहस्तप्रदीपः ॥१४६॥

अन्वयार्थ—**येषाम्**—जिनमहापुरुषोंके, **निर्वाण लक्ष्मी**—मोक्षरूपी लक्ष्मी **नवयुवति**—नवयुवति, **वशीकार मंत्रः**—उसे वश करनेके मंत्र स्वरूप तथा **त्रिभुवन भवन आलोक**—तीन जगत् रूपी महलको प्रकाश स्वरूप, **हस्त प्रदीपः**

—हाथमें दीपक स्वरूप ऐसा, **आत्मप्रबोधः**—स्वात्मबोध, **स्फूर्जति**—स्फुराय मान है। **ते श्लाघ्याः**—वे प्रशंसा योग्य हैं, **ते जगति महार्घा**—संसारमें सदा उत्कृष्ट हैं। **कृतधियः**—जिन्होंने प्राप्त करने योग्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, **ते कृतार्थाः**—वे कृतकृत्य होकर सभी काम पूरे हो चुके, कुछ करना शेष नहीं रहा, **तेभ्यः**—उन महान् आत्माओंको, **भवितनम्रो कृतेयं**—भक्तिके द्वारा नमन रूप यह, **प्रणामांजलिपुट घटना**—प्रणाम-नमस्कारके लिए हाथों की अञ्जलि बाँधकर, **अस्माभिः**—हमारे द्वारा होवे।

अर्थ—जिन योगियोंके मोक्षलक्ष्मीरूपी नवयुवतीके वश करनेके लिये (वशीकार) मंत्र और तीनलोकरूपी घरको प्रकाशित करनेवाला 'हाथमें स्थित' दीपक-स्वरूप आत्मप्रबोध प्रकाशमान है वे योगी परम प्रशंसनीय हैं, महार्घ हैं, ज्ञानवान् और कृतकृत्य हैं। तथा उन योगियोंको नम्रता और भक्तिभावसे मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्म-प्रबोधकी सार्थकता –

संसारकारणशुभाशुभहानिहेतो–
र्निर्वाणकारणविशुद्धिविवर्धनाय।
सम्यक्चिकीर्षुरितरप्रतिबोधसिद्धि–
मात्मप्रबोधमवगच्छतु शांतयोगी ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ—**संसार कारण शुभ अशुभ हानि हेतोः**—संसार परिभ्रमणके कारण जो शुभाशुभ कर्म, उनके विनाशके लिए तथा, **निर्वाण कारण**—मोक्ष प्राप्तिके लिए कारण जो, **विशुद्धि विवर्धनाय**—आत्मविशुद्धिको बढ़ानेके लिए, **इतर प्रति-बोधसिद्धिम्**—दूसरे भव्य जीवोंको प्रतिबोध देकर सिद्धि प्राप्त करनेके लिए, **सम्यक् चिकीर्षुः**—भले प्रकार प्रयत्नशील हैं उस, **शांतयोगी**—शान्त परिणामी योगीको चाहिए कि सर्व प्रथम, **आत्मप्रबोधम्**—अपने आपको प्रबुद्ध, **अवगच्छतु**—बनावे। स्वयं आत्मप्रबोधकर ही दूसरों को प्रबुद्ध करे ॥ १४७ ॥

अर्थ—यह आत्मप्रबोध–आत्मज्ञान संसारके कारण शुभ-अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाला है और मोक्षकी कारणभूत विशुद्धि को बढ़ानेवाला है। इसलिये जो शांत योगी दूसरोंको प्रतिबोध देना चाहता है उसे चाहिये कि वह भलेप्रकार आत्मप्रबोध–आत्मज्ञानको जाने।

भावार्थ—जो योगी दयालु हैं–जिनकी यह उत्कट इच्छा है कि हम

दूसरोंको प्रतिबोध दें तो उन्हें चाहिये कि वे पहिले अपनी आत्माको प्रतिबुद्ध बनावें अर्थात् बिना आत्मप्रबोध देना अशक्य है इसलिये पहिले आत्मप्रबोध का अभ्यास करें। यह आत्मप्रबोध परम कल्याणकारी है क्योंकि इससे संसारके कारण शुभ-अशुभ कर्मोंका नाश होता है और जिस विशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है उस विशुद्धिकी भी वृद्धि होती है ॥ १४७ ॥

आत्मप्रबोध रूप तिलकसे ही सभी विद्यायें शोभा पाती हैं—

सिद्धांततर्कपदलक्षणयोगलक्ष्मशास्त्रश्रमादिगुणभूषणभूषितानां ।
संजायते हि गुणिनां मुखमंडनश्रीरात्मप्रबोधतिलकेन विशेषपूर्णा ॥

अन्वयार्थ—सिद्धान्त-तर्क-पद-लक्षण-योगलक्ष्म-शास्त्र—जैन सिद्धान्त, न्यायशास्त्र-साहित्य-व्याकरणतथा योगशास्त्र-इनमें, **श्रमादि गुणभूषण भूषितानाम्**—अध्ययनमें होने वाले परिश्रमसे शोभायमान है ऐसे, **गुणिनाम्**—गुणीपुरुषों की, **मुखमण्डनश्रीः**—मुखकी शोभा, **आत्मप्रबोध तिलकेन**—आत्मप्रबोधके तिलकसे, **हि संजायते**—निश्चयसे होती है। जैसे समस्त शोभायुक्त मुख की शोभा तिलकसे होती है उसीप्रकार समस्त शास्त्राभ्यास की शोभा आत्मप्रबोधसे ही है।

अर्थ—जो महानुभाव सिद्धांत, न्याय, व्याकरण और योग शास्त्रोंके मनन आदि के श्रमसे उत्पन्न हुये गुणरूपी भूषणसे भूषित—गुणी हैं, उनके मुखमंडलकी शोभा आत्मप्रबोधरूपी तिलकसे विशेष होती है।

भावार्थ—मुखका मंडन करनेपर भी यदि ललाटपर तिलक लगा लिया जाय तो शोभा अधिक बढ़जाती है उसीप्रकार अनेक शास्त्रोंमें विद्वान रहनेपर भी जो गुणवान मनुष्य आत्मप्रबोधका पर्यालोचन करते हैं उनकी विद्वत्ता और भी अधिक छटकने लगती है अर्थात् विद्वानोंको अवश्य इस आत्मप्रबोध ग्रंथका—पर्यालोचन करना चाहिये ॥ १४८ ॥

ग्रन्थकर्त्ता द्वारा ग्रन्थ रचनाका उद्देश्य एवं उपसंहार—

श्रीमज्जिनेंद्रचरणाग्रनखोन्मयूखचंद्रोदयाभिमुखचित्तचकोरकेण ।
श्रीमत्कुमारकविनात्मविबोधनार्थमात्मप्रबोधइतिशास्त्रमिदंव्यधायि ।

अन्वयार्थ—श्रीमत् जिनेन्द्र-चरणाग्र-नख—श्री जिनेन्द्र भगवान्के चरणों के अग्रभागमें जो नख हैं, **उन्मयूख-चन्द्र-उदय**—वे उदय होने वाले चन्द्रमा की किरण समान हैं उनकी तरफ जो सम्मुख है, **चित्र चकोरकेण**—चित्तरूप चकोर जिसका ऐसे, **श्रीमत् कुमार कविना**—श्री कुमार कविने,

आत्म विबोधनार्थम्—अपनी आत्माको प्रतिबुद्ध करनेके लिए, **"आत्मप्रबोध" इति इदं शास्त्रम्**—आत्मप्रबोध है नाम जिसका ऐसा यह शास्त्र, **व्यधायि**—रचा है ॥ १४९ ॥

● इत्यात्मप्रबोधनामाध्यात्मशास्त्रं समाप्तम् ●

अर्थ—जिसका चित्तरूपी चकोर जिनेंद्र भगवानके चरणकमलोंके नख-किरणरूपी चन्द्रमाकी ओर अभिमुख है ऐसे श्रीमान् कुमारकविने अपनी आत्माके संबोधनार्थ इस आत्मप्रबोध ग्रंथकी रचना की है।

भावार्थ—जिसप्रकार चकोर पक्षीका चन्द्रमाके ऊपर गाढ़ प्रेम रहता है उसीप्रकार जिसका भगवान जिनेंद्रके चरणोंमें गाढ़ प्रेम है ऐसे कुमार कविने इस ग्रंथका निर्माण किया है।

इस श्लोकमें जो, आत्मविबोधनार्थं' यह पद दिया है उससे यह बतलाया है कि इस ग्रंथके बनानेमें कोई लोभ, मान आदि कारण नहीं किन्तु मेरी आत्मा किसी प्रकारसे प्रबुद्ध हो जाय इस आशासे ही मैंने यह ग्रंथ बनाया है ॥ १४९ ॥

इस तरह श्री कुमार कवि द्वारा आत्मप्रबोधके साथ अन्य भव्योंका भी आत्म-बोध देने वाला यह आत्मप्रबोध शास्त्र पूर्ण हुआ।

इसका अन्वयार्थ पं० जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, पूर्व प्राचार्य, श्री शान्ति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय, कटनी (म० प्र०), वर्तमानमें कुण्डल-पुर सिद्धक्षेत्र प्रवासी द्वारा हुआ और हिन्दी टीका तथा भावार्थ स्वर्गीय पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ द्वारा लिखा गया भी पूर्ण हुआ।

● इस तरह यह आत्मप्रबोध नामक अध्यात्मशास्त्र समाप्त हुआ ●